प्राकृत भारती पुष्प : ९५

प्रधान सम्पादक
महोपाध्याय विनयसाग

प्रबन्धकोश का ऐतिहासिक विवेचन

लेखक
डॉ० प्रवेश भारद्वाज
प्राध्यापक, इतिहास विभाग
दयानन्द महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

...त भारती अकादमी
जयपुर

प्रकाशक एवं प्राप्ति-स्रोत
सचिव, प्राकृत भारती अकादमी
३८२६, मोतीसिंह भोमियों का रास्ता,
जयपुर - ३०२ ००३

प्रथम संस्करण : १९९५ ईस्वी

मूल्य : रु० १००.०० मात्र

मुद्रक
सन्तोष कुमार उपाध्याय
नया संसार प्रेस
बी० २/१४३ ए, भदैनी
वाराणसी – २२१ ००१

प्रकाशकीय

इतिहास किसी जाति, क्षेत्र, धर्म, राज्य आदि की गतिविधियों का चित्रण या गौरव-गाथा ही नही है, वह आज के समाज की नींव भी है। भारतीय मनीषा ने इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को सम्यक् प्रकार से पहचाना था। इस बात के साक्ष्य हमें भारत के प्राचीन वाङ्मय में बिखरे मिलते हैं। जैनों के इतिहास-लेखन की परम्परा प्राचीन है। परन्तु, उसमें भी वैदिक व अन्य परम्पराओं की भाँति चमत्कार व अलौकिकता घुल-मिल गई थी। तथापि 'खरतरगच्छालंकार बृहद्-गुर्वावली, कुमारपाल चरित्र, प्रबन्ध चिन्तामणि, विविध तीर्थकल्प, प्रभावक-चरित्र, पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' आदि अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जो विशुद्ध ऐतिहासिक सूचनाओं के भण्डार हैं। आवश्यकता है उनमें से तथ्य और अतिशयोक्तियों को पृथक् करने की तथा बिखरे हुए साक्ष्यों को एकत्र कर सत्य को पुष्ट करने की।

"प्रबन्धकोश" ऐसा ही एक ग्रन्थ है जो तथ्यात्मक अधिक है और अतिशयोक्तिपूर्ण कम। डॉ० प्रवेश भारद्वाज ने इसका शोधपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करने की पहल की है। यह प्रयत्न प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। हमें यह पुस्तक प्राकृत भारती पुष्प - ९५ के रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हर्ष की अनुभूति हो रही है। हमें आशा है कि यह पुस्तक सामान्य पाठकों के लिये ऐतिहासिक सूचनाओं का स्रोत होगी और शोधार्थियों के लिए प्रेरणा का। हम डॉ० भारद्वाज को धन्यवाद देते है कि उन्होंने इस शोध की ओर श्लाघनीय प्रयत्न किया।

वरिष्ठ मनीषी डॉ० सागरमल जी जैन ने अपने व्यस्त कार्यक्रम के बीच इस पाण्डुलिपि का अवलोकन कर वैदुष्यपूर्ण भूमिका लिखकर इस पुस्तक का महत्व बढ़ाया है। साथ ही इसका मुद्रण-कार्य भी स्वयं के निर्देशन में करवाया है, अतः हम उनके प्रति आभार

व्यक्त करते हैं और आशा करते हैं कि इस प्रकार के शोधपरक ग्रंथों के प्रकाशन की प्रेरणा एवं उस कार्य में अपनी भावना को वे अक्षुण्ण रखेंगे।

म० विनयसागर
निदेशक
प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

देवेन्द्रराज मेहता
सचिव
प्राकृत भारती अकादमी
जयपुर

•

विद्यानुरागी पूज्य पितामह

स्व० श्री काशीनाथ शर्मा

को

सादर समर्पित

भूमिका

कुछ वर्ष पूर्व मैंने जयपुर की प्राकृत भारती अकादमी द्वारा इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो, इस हेतु संतुरित की थी। वहाँ की प्रकाशन समिति ने मेरी संस्तुति पर अपनी स्वीकृति प्रदान की। साथ ही अकादमी के माननीय निदेशक महोपाध्याय श्री विनयसागर जी ने यह आग्रह भी किया कि प्रस्तुत ग्रन्थ का मुद्रण-कार्य मेरे ही निर्देशन में हो और भूमिका भी मैं ही लिखूँ, तो मैं उनके इस आग्रह को भी टाल नहीं सका। मुद्रण का कार्य तो नया संसार प्रेस और लेखक डॉ० प्रवेश भारद्वाज के सहयोग से पूरा हो गया किन्तु भूमिका लिखने का कार्य मेरी व्यस्तताओं के कारण विलम्ब से हो सका। फिर भी ग्रन्थ के सन्दर्भ में अपने कुछ विचार-बिन्दु प्रस्तुत करने में गौरव का अनुभव कर रहा हूँ।

अकादमी द्वारा प्रकाशित महत्वपूर्ण ग्रन्थों की श्रृंखला में "प्रबन्ध-कोश का ऐतिहासिक विवेचन" नामक इस शोध-प्रबन्ध का पुस्तक रूप में प्रकाशन भी एक महत्वपूर्ण कड़ी है। निस्सन्देह यह जैन इतिहास-दर्शन के क्षेत्र में प्रथम शोधपरक कृति है। जैन परम्परा में इतिहास लेखन की परम्परा तो प्राचीन काल से रही है किन्तु उसमें श्रद्धा-बुद्धि के कारण अलौकिकताओं का भी प्रवेश हो गया है फिर भी प्रबन्धकोश आदि कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं जो जैन इतिहास-दर्शन की आधारशिला हैं। प्रबन्धकोश ने लगभग १०३० वर्षों की काल-अवधि के इतिहास को अपने में समेटा है। परम्परा के इतिहास की दृष्टि से राजशेखर का यह प्रयास स्तुत्य है। उसने अपने प्रबन्धकोश में तिथियों और कालक्रम को इस प्रकार गुम्फित किया जिससे प्रतीत होता है कि राजशेखर को इतिहास की सच्ची पकड़ थी।

यह आवश्यक नहीं कि कोई कवि या इतिहासकार अपने जीवन-काल में ही व्यापक लोक-प्रख्याति प्राप्त कर ले। यद्यपि श्रीहर्ष जैसे कुछ महाकवि अवश्य हुए हैं जिन्होंने अपना सूक्ष्म चलता-सा

प्राक्कथन

इतिहास अतीत का अध्ययन है। इतिहासकार अतीत को वर्तमान की समस्याओं के सन्दर्भ में देखता है। इतिहास इतिहासकार की आँखों से देखा हुआ अतीत का सत्य है।

इतिहास-संरचना की अपनी विधि है। इतिहास एक शास्त्र है जिसे विज्ञान या सामाजिक विज्ञान की संज्ञा और उससे सम्बन्धित गौरव दिया जाता है। इतिहासकार से अपेक्षित है कि वह अपने शास्त्र की विधि और उसके नियमों से परिचित हो और उसका सम्यक् पालन करे। इतिहास के विद्यार्थी को इतिहास का ज्ञान तो दिया जाता है, किन्तु उसे इतिहासशास्त्र की दीक्षा नहीं दी जाती। इतिहासकारों के बीच अपने शास्त्र की विशिष्टता की स्वीकारोक्ति बढ़ रही है। इसी कारण इतिहास-शास्त्र के प्रति जागरुकता उभरी है।

इतिहास-संरचना के अपने मूल कर्त्तव्य के प्रति समर्पण के साथ ही इतिहासकार ने इस संरचना की प्रक्रिया से सम्बन्धित सैद्धान्तिक विवेचन की ओर भी ध्यान दिया है। ये आनुषंगिक प्रश्न कहीं से भी मूल कार्य के लिये कम महत्त्व के नहीं हैं। ये दो प्रकार के हैं; इन्हें इतिहास-दर्शन और इतिहास-रचनाशास्त्र अभिहित किया जाता है। इतिहास-दर्शन के अन्तर्गत हम इतिहास के तथ्यों और इतिहास-रचना की प्रक्रिया दोनों का ही दार्शनिक अनुशीलन करते हैं। इतिहास-रचनाशास्त्र के भी दो पृथक् आयाम हैं। एक ओर तो यह इतिहास की संरचना की विधि में प्रशिक्षण को अपना कार्य-क्षेत्र मानता है तो दूसरी ओर यह संरचित इतिहास के स्वरूप को निर्धारित करने वाले प्रेरक और नियामक कारकों का अध्ययन करता है। इस दूसरे रूप में इसे हिस्टोरियोग्राफी की संज्ञा दी जाती है।

इतिहास-रचनाशास्त्र (हिस्टोरियोग्राफी) के प्रचलन के साथ ही इसके स्वरूप के विषय में भ्रान्तियों के प्रसार की सम्भावनायें

स्वाभाविक हैं। इस शास्त्र के स्वरूप में शिथिलता और इसके गौरव में च्युति हुई है। कभी-कभी इतिहास-संरचना के प्रयासों के सर्वेक्षण और समीक्षा को ही इसका आदि और अन्त मान लिया जाता है। इतिहास-रचनाशास्त्र की इतिहास-संरचना के प्राप्य उदाहरणों के प्रति इतनी सतही दृष्टि नहीं है। यह इन प्रयासों का सुनिश्चित उद्देश्य से पैना और गहरा विश्लेषण है जो इनके स्वरूप, उद्देश्य और मूल्यों को उजागर करके उनको एक गुणात्मकता, एक सार्थकता प्रदान करता है।

इतिहास-रचनाशास्त्र का यह अध्ययन दो स्तरों पर अपेक्षित है— पहला, *आधुनिक काल में सरचना करने वाले इतिहासकार के विषय* में और दूसरा, समय की यात्रा में बहुत पहले हुये ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में जो इतिहास के तथ्यों की सूचना देने वाले हैं। इतिहासकार और प्रमाण-सामग्री के रूप में स्रोतों के जनक दोनों ही स्तरों पर कुछ समान प्रश्न उत्तरित होने और कुछ बिन्दु विवेचित होने है। दोनों के ही व्यक्तित्व, परिवेश, दृष्टिकोण और उद्देश्यों की पहचान उनके कृतित्व के सच्चे मूल्यांकन के लिये आवश्यक आधार हैं। इतिहास की संरचना के स्वरूप पर इन दोनों के व्यक्तित्व की छाप होती है। व्यक्तित्व के निर्माण में कई कारकों का योगदान होता है। इनमें प्रमुख हैं—परिवार की परम्परा और शिक्षकों के प्रभाव। देश और काल का परिवेश व्यक्ति के दृष्टिकोण और विवेच्य प्रश्नों के निर्धारण में प्रभावक होता है। तत्कालीन समाज, जिसको सम्बोधित करके इतिहासकार की संरचना करता है, उसके उद्देश्यों, प्रश्नों और उनके उत्तरों को स्वरूप और स्वर देता है।

प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के स्रोतों की कई परम्परायें है। भारतीय साहित्यिक स्रोतों में वैदिक और ब्राह्मण परम्परायें सुविज्ञात और सुचर्चित हैं। जैन परम्परा अल्पज्ञात और अत्यल्प प्रयुक्त है। जैन परम्परा की अपनी पहचान और अपनी उपयोगिता है। यह अत्यन्त प्राचीन है। इसकी निरन्तरता शताब्दियों के शिलाखण्डों के बीच से प्रवाहित होती रही है। इसकी अपनी शुद्धता, अपनी गति और अपनी गुणात्मकता है। यह ब्राह्मण और

बौद्ध परम्पराओं के समानान्तर रही है। इसने उनका अनेकशः समर्थन और सम्पोषण किया है, उनकी प्रामाणिकता को गौरव दिया है। साथ ही इसकी स्वतन्त्र स्थिति और महत्ता भी रही है। जैन इतिहास-परम्परा की उपेक्षा से भारतीय इतिहास का सच्चा और समग्र रूप कभी भी स्पष्ट नहीं हो सकेगा।

जैन ग्रन्थों में इतिहास की सामग्री बिखरी हुई है। इसके प्रति विश्वास और आदर के भाव बढ़े है। इसके अतिरिक्त जैन परम्परा में इतिहास-संरचना का भी सुस्पष्ट और सुदीर्घ इतिहास है। इतिहास की परिधि में आने वाले जैन ग्रन्थों में, उनकी विशपताओं और लक्षणों के आधार पर, कई साहित्यिक विधियों की पहचान हो सकती है। गुर्वावलि या पट्टावली के अतिरिक्त हम पुराण, प्रवन्ध और चरित-ग्रन्थों को देखते हैं। ये पारिभाषिक नाम ब्राह्मण परम्परा में इनके प्रयोग के सर्वथा समानार्थक नही है। कुछ अर्थों मे समानान्तर होने पर भी इनकी अपनी विशेषतायें और अपेक्षायें हैं। इन विधाओं के आरम्भ और विकास का अध्ययन अत्यन्त रोचक और ज्ञान-वर्धक है।

राजशेखर की कृति "प्रवन्धकोश" प्राचीन भारतीय इतिहास की एक उपयोगी और महत्वपूर्ण रचना है। एक लम्बी अवधि के वहु-पक्षीय इतिहास के लिये इसमें वहुमूल्य सामग्री का संकलन प्राप्य है। स्रोत-सामग्री के ग्रन्थ के रूप में आधुनिक इतिहासकारों के लिए इसकी उपयोगिता के अतिरिक्त इसकी श्रेष्ठता जैन-परम्परा में इतिहास-संरचना के एक उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में भी है। राजशेखर द्वारा प्रस्तुत इतिहास का मूल्यांकन इतिहास-रचनाशास्त्रीय दृष्टि से करने से और अधिक निखर जाता है। इससे इतिहास के विभिन्न तथ्यों और विन्दुओं, व्यक्ति और घटनाओं का स्वरूप सुस्पष्ट होता है। राजशेखर, उनके व्यक्तित्व और परिवेश का विश्लेषण उनके द्वारा प्रस्तुत विवेचन की विशिष्टता और सीमा को रेखांकित करने में सहायक है।

डॉ० प्रवेश भारद्वाज ने मेरे और प्रो० श्रीमती कृष्णकान्ति गोपाल के सफल निर्देशन में वह शोध-कार्य सम्पादित किया है। उनका प्रयास

स्तुत्य है और इतिहास-रचनाशास्त्रीय दृष्टि से शोध प्रयासों के लिये मानक उदाहरण है। यह इन्हें यथेष्ट यश और गौरव दिलाये, यह शुभकामना है।

लल्लनजी गोपाल
रेक्टर,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी
१४-१-१९९४ ई०

लेखकीय

जैन-ग्रन्थ उत्तरपुराण के अनुसार सीता मन्दोदरी के गर्भ से उत्पन्न हुई थी, किन्तु अनिष्टकारिणी जान उसे एक मंजूषा में मिथिला भेजकर भूमि में रोप दिया गया, जहाँ दैवयोग से हल जोतते समय जनक को वह मिल गयी। उसी प्रकार प्रबन्धकोश का यामिनियों के हृद-प्रदेश दिल्ली में जन्म (१३४९ ई०) हुआ था, किन्तु वहाँ अनिष्ट समझ उसे गुजरात भेज दिया गया जहाँ के जैन-भण्डारों में उसकी पाण्डुलिपियाँ मिल गयी। यह प्राचीन व मध्यकालीन भारतीय इतिहास को जानने के लिए एक दिशा-निर्देशक ग्रन्थ सिद्ध हुआ। प्रबन्धकोश के ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर भारत के प्रमुख आचार्यों, कवियों, राजाओं एवं गृहस्थ श्रावकों के इतिहास की पुनर्रचना और प्रबन्धकार के इतिहास-दर्शन की रूपरेखा तैयार की जा सकती है।

प्रबन्धकोश के उद्धरणों का परवर्ती जैन-प्रबन्धों, यहाँ तक कि सोलहवीं शताब्दी के वल्लालकृत भोजप्रबन्ध, में प्रयोग हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से ही ए० के० फोर्ब्स, ब्यूलर, याकोबी, पीटर्सन, स्टीवेन्सन आदि यूरोपीय विद्वानों ने इसके अध्ययन की आवश्यकता अनुभव की थी। सर्वप्रथम १८५६ में फोर्ब्स ने "रासमाला" में और गत शताब्दी के अन्त में ब्यूलर ने हेमचन्द्राचार्य की जीवनी में इसका प्रभूत प्रयोग किया। भारतीय विद्वानों में सर आर० जी० भण्डारकर, विजयधर्मसूरि, मणिलाल ननुभाई द्विवेदी, प्रो० कापड़िया, मुनि जिनविजय, वेलणकर, ए० एन० उपाध्ये, के० पी० जैन, हीरालाल जैन, प्रभृति दिग्गजों ने जैन प्रबन्धों के संग्रह, संकलन अनुवाद और आलोचन किये। १९३५ में प्रबन्धकोश की महत्ता समझते हुए जिनविजय ने इसके ऐतिहासिक विवेचन की आयोजना बनायी, किन्तु उसकी क्रियान्विति आज लगभग साठ वर्ष गुजर जाने पर भी नहीं हो सकी है।

आर० एस० त्रिपाठी, गुलाबचन्द्र चौधरी, ए० के० मजुमदार, बी० जे० साण्डेसरा जैसे विद्वानों ने राजशेखर को इतिवृत्तकार मान-

कर उसके प्रबन्धकोश का अपने ग्रन्थों में यत्र-तत्र स्फुट प्रयोग किया है। चतुर्विंशतिप्रबन्ध (अपरनाम प्रबन्धकोश) पर नागरी प्रचारिणी पत्रिका में शिवदत्त शर्मा का केवल एक लेख और जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६ में लगभग आधा पृष्ठ प्रकाशित है। परन्तु पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों के प्रयासों के बावजूद आज तक प्रबन्धकोश का न तो हिन्दी या अंग्रेजी में अनुवाद हुआ, न उस पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रकाशित किया गया और न ही उसमें संकलित ऐतिहासिक सामग्री का अभी तक सम्यक् विवेचन ही किया जा सका है।

प्रस्तुत पुस्तक में प्रबन्धकोश को पहली बार एक नये दृष्टिकोण से देखा और परखा गया है। इसमें प्रबन्धकोश का परम्परागत राजनीतिक, सामाजिक, भौगोलिक अथवा सांस्कृतिक अध्ययन न करके इतिहासशास्त्रीय दृष्टि से विवेचन किया गया है।

प्रबन्धकोश का यह ऐतिहासिक विवेचन जैन इतिहास-दर्शन के विकास-क्रम की एक कड़ी है, क्योंकि ग्रन्थ का प्रतिपादन करने में जो पद्धति अपनायी गयी है उसमें ग्रन्थागत प्रबन्धों में से अपेक्षित सामग्री का चयन एवं अन्य स्रोतों से उसकी पुष्टि करते हुए, इतिहास-दर्शन के विभिन्न तत्त्वों, यथा – ऐतिहासिक तथ्य, स्रोत, साक्ष्य, कारणत्व, परम्परा एवं कालक्रम, के परिप्रेक्ष्य में प्रबन्धकोश का विवेचन किया गया है जिसमें कहीं-कहीं सी० एच० टॉनी, जिनविजय और ए० के० मजुमदार प्रभृति विद्वानों तक के मतों में संशोधन करना पड़ा है।

इस पुस्तक के प्रणयन के समय कुछ विषयों पर नये दृष्टिकोण से *प्रथम बार प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।* इस सन्दर्भ में जैन-प्रबन्धों एवं जैन-चरितों में अन्तर, राजशेखर की जीवनी व कृतित्व, प्रबन्धकोश के शीर्षक, वङ्कचूल प्रबन्ध और रत्नश्रावक प्रबन्ध की ऐतिहासिकता, राजशेखर का इतिहास-दर्शन, अन्य प्रमुख जैन प्रबन्धों, राजतरंगिणी तथा मुसलमानी, अंग्रेजी और फ्रान्सीसी ग्रन्थों से तुलना आदि के उल्लेख किये गये हैं।

प्रथम अध्याय में जैन-प्रबन्ध का अर्थ स्पष्ट करते हुए जैन-इतिहास के विकासक्रम में प्रबन्धकोश का स्थान निर्धारित किया गया है।

द्वितीय अध्याय में इतिहासकार राजशेखर की जीवनी व कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ के शीर्षक, संस्करणों एवं भाषानुवादों का परिचय तृतीय अध्याय में दिया गया है। चतुर्थ और पञ्चम अध्याय ऐतिहासिक तथ्यों के है। षष्ठ एवं सप्तम अध्यायों में राजशेखर के इतिहास-दर्शन की विवेचना की गयी है। अष्टम अध्याय प्रबन्धकोश और अन्य ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। अन्तिम अध्याय में उपसंहार के रूप में निष्कर्ष दिया हुआ है।

इस पुस्तक में यथेष्ट उद्धरण दिये गये है। इसको सुबोध बनाये रखने के लिए कुछ तथ्यों की पुनरावृत्ति की गयी है जिसकी स्वीकारोक्ति यथास्थान पाद-टिप्पणियों में कर दी गयी है। विषय-विवेचन को अधिक प्रामाणिक बनाने के लिए अन्य मौलिक ग्रन्थों से प्रभूत सहायता ली गयी है। लेखक उन सभी ग्रन्थकारों का ऋणी है जिनकी कृतियों से उसने सहायता ली है जिनका अविरल ज्ञापन पाद-टिप्पणियों में किया गया है। प्रारम्भ में संकेत-सूची और अन्त में पाँच परिशिष्ट, अकारादि क्रमानुसार वर्गीकृत सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची, राजशेखर कालीन भारत का मानचित्र, अनुक्रमणिका तथा शुद्धिपत्र भी दिये गए है।

प्रबन्धकोश पर इस प्रकार का कार्य प्रथम प्रयास है, किन्तु अन्तिम नहीं क्योंकि ग्रन्थागत भौगोलिक तथ्यों एवं सांस्कृतिक पक्षों पर और कार्य किये जा सकते हैं। परन्तु उन्हें इसलिये स्थगित कर देना पड़ा कि पुस्तक में विस्तार सम्बन्धी दोष प्रविष्ट न हो सके।

पुस्तक का मूल रूप शोध-प्रबन्ध था, जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पी-एच० डी० उपाधि हेतु स्वीकृत किया गया था। इस सम्बन्ध में मैं अपनी निर्देशिका श्रीमती प्रो० कृष्णकान्ति गोपाल का सर्वाधिक आभारी हूँ। अपने सह-निर्देशक एवं पूज्य गुरुवर प्रो० लल्लनजी गोपाल के अधीन कार्य करने में मैं गौरव अनुभव करता हूँ जिनके अगाध पाण्डित्य एवं विद्यामय पथ-प्रदर्शन के कारण इस पुस्तक का दृष्टिकोण इतिहासशास्त्रीय हो सका। मेरी जो कुछ भी उपलब्धि है उसमें मेरी पूज्या माँ श्रीमती पुष्पा भारद्वाज तथा पूज्य पिता डॉ० विश्वनाथ भारद्वाज के भी आशीर्वाद हैं।

जैन साहित्य व इतिहास के सुप्रसिद्ध विद्वान् एवं पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान के निदेशक डॉ० सागरमल जैन का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ, जिनके सान्निध्य में मुझे अध्ययन करने का निरन्तर अवसर मिला और जिनकी दृढ़ संस्तुति से ही यह पुस्तक प्रकाशनार्थ जयपुर भेजी जा सकी है। डॉ० जैन द्वारा लिखी गयी विद्वत्पूर्ण भूमिका तथा डॉ० लल्लनजी गोपाल द्वारा प्रस्तुत प्राक्कथन से इस ग्रंथ की उपादेयता में श्रीवृद्धि हुई है।

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर के निदेशक महोपाध्याय श्री विनयसागर जी का मैं चिर-ऋणी हूँ जिन्होंने पुस्तक के मूल रूप की कतिपय त्रुटियों की ओर संकेत किया और राजशेखरसूरि की जीवनी से सम्बन्धित अध्याय को पूर्णतः पुनः लिखने की प्रेरणा दी। उन्हीं के मूल्यवान् सुझावों के आलोक में यह कार्य पुस्तकाकार रूप में प्रस्तुत किया जा सका है।

मैं न्यायमूर्ति श्री चतुर्भुजदास पारिख का ऋणी हूँ जिन्होंने जैन-दर्शन के कतिपय व्यावहारिक पक्षों पर मुझे आलोकित किया था। डॉ० ब्रह्मानन्द जी त्रिपाठी, डॉ० सागरमल जी जैन तथा श्री नरायनदास जी माहेश्वरी का मैं हृदय से उपकृत हूँ जिन्होंने समय-समय पर क्रमशः संस्कृत, प्राकृत और गुजराती भाषा की गुत्थियों को सुलझाने में कृपादान किया है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, श्वेताम्बर जैन मन्दिर (रामघाट) एवं दयानन्द महाविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्षों द्वारा प्रदत्त सहयोग के लिये मैं धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। अन्ततः त्वरित एवं कुशल मुद्रण के निमित्त श्री सन्तोष कुमार जी उपाध्याय का, लेखक सदा आभारी रहेगा।

— प्रवेश भारद्वाज

के० ६/७ ए, गायघाट
वाराणसी
२६ जनवरी, १९९५ ई०

संकेत-सूची

अभिचि	—	अभिधानचिन्तामणि
इलि० डाउ०	—	द हिस्टरी ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड वाई इट्स ओन हिस्टोरिएन्स (इलियट ऐण्ड डाउसन)
इण्डि० एण्टि०	—	इण्डियन एण्टिक्वेरी
एपि० इण्डि०	—	एपिग्रैफिया इण्डिका
एस० बी० ई०	—	सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट
खरतर	—	खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि
खरतरपट्ट	—	खरतरगच्छ पट्टावलि संग्रह
गजेबा	—	गजेटियर ऑफ दि बॉम्बे प्रेसीडेन्सी
गाओसी	—	गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज
गुइलि	—	गुजरात ऐण्ड इट्स लिटरेचर
चागु	—	चालुक्याज ऑफ गुजरात
जिरको	—	जिन-रत्न-कोश
जे आर ए एस	—	जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी
जे बी बी आर ए एस	—	जर्नल ऑफ द बॉम्बे ब्राञ्च ऑफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी
जैनसो	—	द जैन सोर्सेज ऑफ द हिस्टरी ऑफ एंश्येण्ट इण्डिया
जैपइ	—	जैन परम्परानो इतिहास
जैसाइ	—	जैन साहित्यनो इतिहास
जैसाबृइति	—	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास
जैहिइलि	—	द जैन्स इन द हिस्टरी ऑफ इण्डियन लिटरेचर
पाहिनाइजैसो	—	पॉलिटिकल हिस्टरी ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज
पुप्रस	—	पुरातनप्रबन्धसंग्रह

प्रको	—	प्रबन्धकोश
प्रचि	—	प्रबन्धचिन्तामणि (सम्पा०) जिनविजय-मुनि
प्रचिटा	—	प्रबन्धचिन्तामणि (अंग्रेजी अनु० सी० एच० टॉनी)
प्रचिद्वि	—	प्रबन्धचिन्तामणि (हिन्दी अनु० हजारी प्रसाद द्विवेदी)
प्रभाच	—	प्रभावकचरित
मवसा	—	महामात्य वस्तुपाल का साहित्यमण्डल
रामाफो	—	रासमाला (फोर्ब्स कृत-हिन्दी अनु०)
लाहेम	—	लाइफ ऑफ हेमचन्द्राचार्य
लिसमव	—	लिटररी सर्किल ऑफ महामात्य वस्तुपाल
लेविसको	—	लेक्सिकोग्रैफिकल स्टडीज़ इन जैन संस्कृत
विक्रउ	—	विक्रमादित्य ऑफ उज्जयिनी
वितीक	—	विविधतीर्थकल्प
विधिमा	—	विधि मार्ग प्रपा (जिनप्रभसूरि कृत)
सइआप्टे	—	संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी (आप्टे कृत)
सिजैग्र	—	सिंघी जैन ग्रन्थमाला
हिइलि	—	हिस्टरी ऑफ इण्डियन लिटरेचर
हिज्योला	—	हिस्टौरिकल ज्योग्रैफी ऑफ एँश्येण्ट इण्डिया
हिसाको	—	हिन्दी साहित्यकोश
हिहिरा	—	हिस्टरी ऑफ हिस्टौरिकल राइटर्स
हेमजी	—	हेमचन्द्राचार्य जीवन चरित्र (व्यूलर कृत)

●

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ

प्रामाणिक एवं यथार्थ चित्रण है।"[1] उन्होंने इतिहास का अर्थ 'इति इह आसीन्' (ऐसा यहाँ घटित हुआ) से लगाया है। जिनसेन ने आगे स्पष्ट किया है कि चूंकि यह प्राचीन घटनाओं का वर्णन करता है, इसलिए इतिवृत्त है; यह प्रमाणों पर आधारित है, अतः आम्नाय है; यह ऋषियों द्वारा रचित है, अतएव आर्प है; इसमें उपदेश भरे पड़े हैं, इसलिए सूक्त है; इसमें धार्मिक व नैतिक सिद्धान्त निहित हैं, अतः धर्मशास्त्र है। जिनसेन की इतिहास अवधारणा की यह व्यापकता ब्राह्मण-परम्परा की उस व्याख्या से तुलनीय है जिसमें इतिहास को धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के उपदेश व इतिवृत्त कथा से युक्त कहा गया है।

इस प्रकार कौटिल्य की तरह जिनसेन की इतिहास सम्बन्धी विचारधारा अत्यन्त व्यापक और आधुनिक प्रतीत होती है। इतिहास के लिए 'धर्मशास्त्र' शब्द प्रयुक्त कर इन विद्वानों ने ऐतिहासिक विचार-धारा में भौतिकवादी तत्वों के साथ-साथ सांस्कृतिक तत्वों का भी समावेश कर दिया है।

जिनसेन के पश्चात् हेमचन्द्र ने जैनों की ऐतिहासिक परम्पराओं के विकास में अधिक योगदान किया। हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि[2] में पुरावृत्त, प्रवह्लिका या प्रहेलिका, जनश्रुति या किंवदन्ति, वार्ता-ऐतिह्य एवं पुरातनी को 'इतिहास' का पर्याय बताया है। पुरावृत्त नासिकेतोपाख्यान, महाभारत आदि हो सकते हैं। जनश्रुति एवं

---

१. इतिहास इतीष्टं तद् इतिहासीदिति श्रुतेः।
इतिवृत्तमथैतिह्यमाम्नायञ्चामनान्ते तत ॥
ऋषिप्रणीतमार्षंस्याव् सूक्तं सूनृतशासनाद्।
धर्मानुशासनाच्चेदं धर्मशास्त्रमिति स्मृतम् ॥
आदिपुराण प्रथम, पृ० २४-२५। दे० झा, सिद्धनाथ : आदिपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन, बी० एच० यू० अप्रकाशित पी-एच० डी० शोध-प्रबन्ध, १९६५; जैनसो, पृ० १, जैसाबृइति, पृ० ५५।

२. इतिहासः पुरावृत्तं प्रवह्लिका प्रहेलिका।
जनश्रुतिः किंवदन्ती वार्तैतिह्यं पुरातनी ॥
अभिचि, काण्ड २, श्लोक १७३, पृ० ७२-७३।

किंवदन्ति को इतिहास नहीं अपितु इतिहास का स्रोत माना जाना चाहिए। इसी प्रकार प्रहेलिका (पहेली) किसी गूढ़ प्रश्न के ऐतिहासिक उत्तर से सम्बन्धित की जा सकती है, परन्तु उसे इतिहास स्वीकार करना उचित नहीं है। अतः हेमचन्द्र के अनुसार पुरावृत्त को इतिहास मानना उचित होगा। ध्यान देने योग्य बात यह है कि हेमचन्द्र ने इतिह और ऐतिह्य में अन्तर स्थापित किया है। इतिह का अर्थ 'सम्प्रदाय' है जबकि प्राचीन बात का नाम ऐतिह्य है। इससे प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र इतिहास के प्रति जागरुक था।

मध्ययुग में और आगे बढ़ने पर जैन इतिहास-लेखन के प्रमाण वहियों के रूप में मिलते हैं। वहिका वही है जिसमें राजा के कार्यो का संकलन किया जाता था। इस प्रकार के उदाहरण मेरुतुङ्गकृत प्रवन्धचिन्तामणि के विक्रमार्क राजा प्रवन्ध और भोजप्रवन्ध से प्राप्त होते है।[1] विक्रमार्क राजा प्रवन्ध में लिखा है कि कोपाध्यक्ष धर्मवहिका में राजा द्वारा दिये गए सुवर्ण का वृत्तान्त लिखा करते थे। इसमें आगे वर्णन आता है कि एक वार राजा भोज अपने धर्म व दान की वारम्वार प्रशंसा कर रहे थे तव उनके वृद्ध मन्त्री ने उनके अहङ्कार को कम करने और उन्हें सत्पथ पर लाने के लिए विक्रमादित्य की धर्मवहिका उनके हाथ में रख दी। विक्रमादित्य की दानशीलता का उसमें वर्णन देखकर भोज में विनम्रता उत्पन्न हुई और उन्होंने उस धर्मवहिका की पूजा करने के पश्चात् उसे यथास्थान रखवा दिया।[2] अतः अनुमान किया जा सकता है कि राज्य-अभिलेखागार में इस प्रकार की वहिकाएँ सुरक्षित रखी जाती थीं। प्रवन्धकोश में स्पष्ट लिखा है कि आभड़ श्रेष्ठी के पास तीन प्रकार की वहिकाएँ थी—

(१) रोकड़ वही

---

१. "यद्धर्मवहिकायां श्लोकवन्धेन मया सुवर्णदानं निहितम्।" प्रचि, पृ० ७।
"तन्मन्त्री धर्मवहिकायां श्लोकवद्धं लिलेख।"
वही, पृ० २६, पंक्ति ११-१२।
"तद्धर्मवहिकानियुक्तो नियोग्येवं काव्यमलिखत्।" पंक्ति २१।

२. "तदौदार्यविनिर्जितगर्वसर्वस्वस्तां वहिकामर्चयित्वा यथास्थानं प्रस्थापयत्।" वही, पृ० २७।

(२) विलम्ब वही अर्थात् प्रदान वही, और
(३) परलोक वही या धर्म वही ।[१]

इस प्रकार गुजरात और मालवा में जैन इतिहास का विकास-क्रम द्रुतगति से आगे बढ़ा। गुजरात ने प्रबल आघात सहे हैं और यहाँ के ग्रन्थकारों में देश-प्रेम का भाव उत्पन्न होने से इतिहास-लेखन की भावना का द्रुतगति से विकास हुआ। सूरियों, सन्तों और आचार्यों ने जैन-प्रबन्ध लिखे। अतः गुजरात के जैनों में भारतवर्ष के अन्य धर्मावलम्बियों की अपेक्षा इतिहास की अवधारणा अधिक पुष्ट थी।

मेरुतुङ्ग ने इतिहास की एक सुस्पष्ट अवधारणा बना ली थी। वह इतिहास को परम्परा, स्रोत-ग्रन्थों एवं यथाश्रुति पर आधारित मानता था।[२] उसके विचारानुसार योग्य परम्परा तथा सुनी-सुनायी बातें ही इतिहास का निर्माण करती हैं। उसने स्थान-स्थान पर स्रोत ग्रन्थों का खूब उपयोग भी किया है और उनमें से कुछ को उद्धृत भी किया है। उसने प्रबन्ध-चिन्तामणि को तिथियों और कालक्रम से इतना गुम्फित कर दिया है जिससे सिद्ध होता है कि उसको इतिहास की सच्ची पकड़ थी। प्रकीर्णक प्रबन्ध में मेरुतुङ्ग ने इतिहास सम्बन्धी अपनी अवधारणा को मूर्त रूप दिया है। उसने वह वृत्तान्त जैसा घटा था वैसा ही निवेदित किया।[३] अतः मेरुतुङ्ग के अनुसार घटित घटना की उसी रूप में प्रस्तुति ही इतिहास है। उसने अपने ज्ञान को तीन क्षेत्रों में विभाजित किया था, यथा—काव्य, इतिहास और दर्शन जिसमें कल्पना, स्मृति और बुद्धि का सन्तुलित उपयोग किया गया था, किन्तु उसने इतिहास को स्मृति के अलावा परम्परा और चक्षुर्दर्शियों पर भी आधारित किया था।

राजशेखर ने मेरुतुङ्ग द्वारा स्थापित इतिहास की परम्परा को आगे बढ़ाया। उसने जैन-प्रबन्ध को एक स्वतन्त्र शास्त्र का स्थान

---

१. आभडस्य वहिकास्तिस्रः। एका रोकवही, अपरा विलम्बवही, तृतीया परलोक (पारलौकिक) वही। प्रको, पृ० ९८।
२. ग्रन्थे तथाप्यत्र सुसम्प्रदायाद् दृब्धे। प्रचि, पृ० १।
३. तद्वृत्तान्तं प्रत्युपकारभीरुः यथावस्थितं निवेदयामास। वही, पृ० ११०।

दिया जो इतिहास का साधन बना।[1] उसने न केवल प्रवन्ध की परिभाषा दी अपितु इतिहास को साहित्य के घेरे से बाहर निकाला। इतिहास जो अब तक केवल युद्धों और राजसभाओं की घटनाओं तक सीमित था उसे राजशेखर ने जनसामान्य के धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया। ऐतिहासिक विकासक्रम में राजशेखर का यह महत्वपूर्ण योगदान है। अब जैन-प्रवन्ध इतिहास की एक मानक परम्परा के रूप में स्वीकार किये जाने लगे। राजशेखर के प्रवन्धों मे कल्पना-तत्त्व गौण हो गये हैं और इसका स्वरूप इतिहास की विद्या के रूप में विकसित हो गया, क्योंकि राजशेखर ने अपने ग्रन्थ में उन्हीं प्रवन्धों का संग्रह किया है जिन्हें उसने अपने आचार्यों से श्रुत-परम्परा में प्राप्त किये थे।

उपर्युक्त विकासक्रम में जैन इतिहास की कुछ ही विधाएँ दीख पड़ती हैं। परन्तु लौकिक जैन साधनों में पट्टावलियाँ, गुर्वावलियाँ, राजावलियाँ, थेरावलियाँ, ख्यात, प्रशस्तियाँ, विज्ञप्तिपत्र, चरित, प्रवन्ध आदि जैन इतिहास की अन्य विधाएँ हैं जिन्हें जैन लोगों ने प्राचीन काल से लिखना शुरू किया था। प्रवन्धों को छोड़कर इनको अर्द्ध-ऐतिहासिक मानना चाहिए, क्योंकि राजाओं, जैन आचार्यों एवं साधारणजनों से सम्बन्धित घटनाओं के वर्णन के साथ-साथ ये तथ्य और गल्प को मिश्रित कर देती है। जैन चरितों में तीर्थङ्करों, चक्रवर्तियों तथा पूर्व काल के ऋषियों की पौराणिक जीवनियाँ हैं। भवदेवसूरि विरचित पार्श्वनाथचरित, हेमचन्द्र का 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' इसके उदाहरण हैं। ये जैनचरित भी उसी तरह अर्द्ध-ऐतिहासिक हैं, क्योंकि इनमें भी तथ्य एवं गल्प युगनद्ध हैं।

अतः इन विधाओं में केवल जैन-प्रवन्ध ही एक स्वतन्त्र शास्त्र की भाँति जैन-इतिहास को एक पृथक् और स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करता है। जैन इतिहास की इस शाखा की ओर हम ऐतिहासिक विस्तार के लिए उन्मुख होते हैं। इन प्रवन्धों की रचना बाद में हुई पर ये देश

---

१. राजशेखर ने 'प्रवन्ध' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ग्रन्थारम्भ में किया है तत्पश्चात् बप्पभट्टिसूरिप्रबन्ध (प्रको, पृ० ३७), हर्षकविप्रबन्ध (वही, पृ० ५५), विक्रमादित्य प्रबन्ध (वही, पृ० ८३) तथा वस्तुपाल प्रबन्ध (वही, पृ० ११७) में किया है।

की प्राचीन प्रामाणिक परम्पराओं पर आधारित हैं और अतीत का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करते हैं।

'प्रबन्ध' शब्द का प्रयोग बराबर बदलता रहा है। प्रबन्ध का मौलिक अर्थ ग्रन्थ-रचना है। यह संस्कृत के प्र + बन्ध से मिलकर बना है जिसका आशय है रचना करना। दूसरे शब्दों में परम्परानुमोदन के साथ किसी विषय का गद्य या पद्य में प्रस्तुतीकरण प्रबन्ध कहलाता है। परन्तु प्रबन्ध का रूढ़िवादी अर्थ महाकाव्यों से सम्पर्कित किया जाता रहा और उन्हें प्रबन्ध-काव्य पुकारा गया है। परवर्ती काल में, प्रतिष्ठित पुरुषों से सम्बन्धित ऐतिहासिक घटनाओं पर आधारित लघु-कथाओं को प्रबन्ध कहा गया। अतः एक अविरल और सुसम्बद्ध वृत्तान्त या व्याख्यान को प्रबन्ध कहा जाने लगा। किन्तु आज 'प्रबन्ध' शब्द न तो मौलिक अर्थ में और न रूढ़िवादी अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, प्रत्युत् आज इसे शोध-ग्रन्थ के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

जैन-ग्रन्थकारों ने 'प्रबन्ध' शब्द का विशिष्ट अर्थ में प्रयोग किया है। गुजरात और मालवा के वाङ्मय का एक विशिष्ट रूप जैन-प्रबन्ध है, जो विशेषतः जैन-ग्रन्थकारों द्वारा रचा गया था। एक ऐतिहासिक वृत्तान्त को प्रबन्ध नाम दिया गया है जो प्रायः सरल संस्कृत या प्राकृत गद्य और कभी-कभी पद्य में लिखा गया है।[१] हेमचन्द्र प्रथम विद्वान् था जिसने प्रबन्ध-काव्य से भिन्न साहित्य के एक स्वतन्त्र रूप प्रबन्ध के अस्तित्व को मान्यता दी। जिनभद्र की प्रबन्धावलि (१२३४ ई०) प्राचीनतम प्रबन्ध-ग्रन्थ है किन्तु इसमें जैन-प्रबन्ध को परिभाषित नहीं किया गया है। प्रभाचन्द्र ने इस सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट किया है कि जैन-प्रबन्ध की विषय-वस्तु परम्परा से ग्रहण करनी चाहिये और इसमें मृदु चरित्रों एवं महान कार्यों का ही वर्णन करना चाहिये।[२]

यद्यपि मेरुतुङ्ग ने भी जैन-प्रबन्ध की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं की है तथापि प्रबन्धचिन्तामणि के मंगलाचरण से उसका प्रबन्ध से सम्बन्धित मन्तव्य प्रस्तुत किया जा सकता है। 'प्रबन्धचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ कई संग्रहों को मिलाकर गूँथा गया है। ये गद्यबद्ध प्रबन्ध

---

१. दे० लिसमव, पृ० १४४।

२. प्रभाच, पृ० १ तथा दे० वही, प्रास्ता० वक्तव्य, जिनविजय, पृ० ५।

(जैन-प्रबन्ध) प्रसिद्ध पुरुषों के विभिन्न इतिवृत्त और जीवन-कथाएँ हैं जो ग्रन्थकार के समय से अधिक पहले की नहीं है। ऐसे इतिवृत्त व जीवन-कथाएँ विद्वज्जनों की सद्परम्परा पर आधारित हैं जिनमें अधिकांश संग्रह और गद्य-वृत्तान्त हैं। अतः वे प्रामाणिक है, सरलता से समझ में आते हैं और बुद्धिमान लोगों को प्रसन्न करते हैं।[1]

जैन-प्रबन्ध को सर्वप्रथम स्पष्टतः परिभाषित करने का श्रेय राजशेखर सूरि को दिया जाना चाहिये। राजशेखर कहता है कि जैन-प्रबन्ध उन महापुरुषों की जीवन-कथाएँ हैं, जो आर्यरक्षित (निधन ३० ई०) के समय के बाद हुए है।[2] राजशेखर ने स्वयं गुरुमुख से सुनकर चौबीस विस्तृत प्रबन्धों का संग्रह किया।[3] उसके चौबीस प्रबन्धों में सात राजवर्ग के प्रबन्ध है और शेष आचार्यो, कवियों और और सामान्यजनों के हैं।

कुछ आधुनिक विद्वानों ने जैन-प्रबन्धों को अर्द्ध ऐतिहासिक माना है क्योंकि ये ऐतिहासिक पुरुषों का वर्णन करते हुए इतिवृत्तों के संग्रह हैं, न कि वास्तविक जीवनियाँ या इतिहास।[4] परन्तु कुछ आधुनिक विद्वान् जैन-प्रबन्धों को अधिकांशतः ऐतिहासिक मानते हैं क्योंकि ये प्रायः जीवनी सम्बन्धी ऐसे वर्णन है जो किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक सूरि, विद्वान् या राजपुरुष से सम्बन्धित होते हैं।[5]

---

१. प्रचि, पृ० १, श्लोक ६ व ७।

२. "वक्तःप्रायेणचरितैः प्रबन्धैश्च कार्यम्। तत्र ···· ··· आर्यरक्षितान्तानां वृत्तानि चरितानि उच्यन्ते। तत्पश्चात्कालभाविनां तु नराणां वृत्तानि प्रबन्धा इतिः।" प्रको, पृ० १; दे० हेमजी, पृ० ६ भी।

३. "इदानीं वयं गुरुमुखश्रुतानां विस्तीर्णाना रसाढ्यानां चतुर्विंशतेः प्रबन्धानां संग्रहं कुर्वाणाः स्म।" वही, पृ०४७; दे० लेविसको पृ० ७७।

४. हिइलि, पृ० ५१९; विण्टरनित्स : जैहिइलि, पृ० १४; मेहन्दले ऐण्ड पुसालकर : देलही सल्तनेत, हिस्टरी ऐण्ड कल्चर ऑफ द इण्डियन पीपुल, जि० ६, बम्बई, १९६०, पृ० ४७४; पाहिनाइ, पृ० ३; थापर, रोमिला : भारत का इति०, नयी दिल्ली, १९८३, पृ० २३८।

५. आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, कलकत्ता, १९६१, तृतीय खण्ड, पृ० १५; जैनसो, पृ० १८; दे० पृ० ३२४ व पृ० ३२६।

प्रस्तुत जैन-प्रबन्ध विशाल जैन-साहित्य का एक छोटा रूप है, जो गद्य और पद्य दोनों में तथा सरल संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी में तेरहवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक लिखे गये। यद्यपि जैन-प्रबन्ध जैन-साहित्य का एक गत्यात्मक रूप रहा है तथापि इसे किसी निश्चित परिभाषा में आबद्ध करना कठिन है क्योंकि जो विषय जितना महत्वपूर्ण, विकासशील और लचीला होता है उसको परिभाषाओं द्वारा सीमित करना बड़ा कठिन हो जाता है। फिर भी इसकी परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि जैन-प्रबन्ध छोटे-छोटे अध्यायों में विभक्त इतिहास की एक विधा है, जो गुजरात, मालवा या राजस्थान के जैन ग्रन्थकारों द्वारा तेरहवीं से सोलहवी शताब्दी तक संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की गद्य-पद्य शैली में लिखे गये है जिनमें से अधिकांश ऐतिहासिक हैं।

उपर्युक्त परिभाषा का विश्लेषण करने से जैन-प्रबन्धों की कुछ विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती है। यथा—(१) जैन-प्रबन्ध जैन-इतिहास का एक विशिष्ट रूप है। (२) ये छोटे-छोटे अध्यायों में लिखे गये हैं। (३) इनकी रचना गद्य और पद्य दोनों में हुई है। (४) इनकी भाषा अधिकतर सरल संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और प्राचीन राजस्थानी है। (५) इनके रचयिता प्रायः जैन मतावलम्बी हैं। (६) इनकी रचना का समय तेरहवी शताब्दी से शुरू होता है। (७) ये मूलतः गुजरात, मालवा और राजस्थान में लिखे गये तथा (८) इनमें से अधिकांश प्रबन्ध ऐतिहासिक है। इस दृष्टि से राजशेखर का प्रबन्धकोश केवल एक जैन-प्रबन्ध नहीं अपितु अनेक जैन-प्रबन्धों का एक संकलित ग्रन्थ है।

जैन-प्रबन्धों के रूपो द्वारा ही उनकी विषय-वस्तु निर्धारित की गई है। यदि वे गद्य-प्रधान हैं तो प्रायः ऐतिहासिक वृत्तों को या इतिहास-सम्बन्धी सूचनाओं को अपना विषय बनाते है। यदि वे पद्य-प्रधान हैं तो ऐतिहासिक सामग्रियों के होते हुए भी वे इतिहास की अपेक्षा साहित्य के अधिक समीप आते हैं और अर्द्ध ऐतिहासिक कहे जा सकते हैं। जैन-प्रबन्धों में वर्णित चरित्र व घटनाएँ ऐतिहासिक हैं। जिन ऐतिहासिक चरित्रों का चयन किया गया है वे गुणवान और गुणहीन दोनों प्रकार के हैं। उपदेशात्मक उद्देश्य कदम-कदम पर दीख पड़ता

है। वास्तविक जीवन पर आधारित रोचक इतिवृत्त इनका प्रमुख वर्ण्य-विषय है। इनमें कल्पनाप्रधान कथाओं का सृजन और अतिमानवीय शक्तियों का वर्णन बहुत कम किया गया है।

अधिकांश जैन-प्रबन्ध राजकीय आश्रय के अभाव मे लिखे गये। कालक्रमीय आधार पर जैन-प्रबन्धों को प्रारम्भिक व परवर्ती वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। जो जैन-प्रबन्ध शुरू के सौ वर्षो तक लिखे गये उन्हें प्रथम वर्ग में रखा गया है और बाद वालों को द्वितीय वर्ग में। वास्तव में, प्रारम्भिक जैन-प्रबन्ध तेरहवी शताब्दी के मध्य से लेकर चौदहवी शताब्दी के मध्य तक लगभग ११५ वर्षो में रचे गये है। ये सामान्य, परस्पर सम्बन्धित और अत्यधिक ऐतिहासिक महत्व के हैं जबकि परवर्ती जैन-प्रबन्ध विशिष्ट और व्यक्ति-विशेष का नामाभिधान ग्रहण करने वाले है। ये परस्पर असम्बन्धित और अपेक्षाकृत कम ऐतिहासिक महत्व के हैं।

प्रश्न उठता है कि जैन-प्रबन्ध क्या साहित्य के कथा-वर्ग में आते है या जीवनी अथवा उपन्यास की श्रेणी में ?

जैन-प्रबन्ध साहित्य के अन्य रूपों की अपेक्षा जीवनी के ही कुछ समीप आते हैं। कुछ जैन-प्रबन्धों में महापुरुषों की जीवनियाँ भी लिपिबद्ध हैं, परन्तु कभी-कभी प्रबन्धकारों ने अपने चरित्रों के अवगुणों तक का उल्लेख किया है। इस प्रकार ये जीवनियों से भी भिन्न हैं। प्रबन्धकार आवश्यक बातों का चयन करता था और आवश्यक पक्षों का ही निरूपण करता था। अतः जैन-प्रबन्ध केवल जीवनियाँ ही नहीं अपितु घटनाओं का, राज्य की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व धार्मिक अवस्थाओं का ही अधिकतर वर्णन है। जैन-प्रबन्ध उपन्यासों या लघु उपन्यासों से भी भिन्न है क्योंकि प्रबन्धकार को स्वेच्छया या आवश्यकतानुसार किसी नायक की रचना करने का अधिकार नहीं है। उसे घटना या वार्तालाप को गढ़ने अथवा किसी तथ्य को छोड़ देने की भी स्वतन्त्रता नहीं है।

जैन-प्रबन्धों की भाँति परवर्ती काल के महाराष्ट्र में मराठी बखर (इतिवृत्त) लिखे गये थे। महाराष्ट्र का परवर्ती इतिहास-लेखन मराठी भाषा में है जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण और विपुल संख्या में

प्राप्त इतिवृत्त हैं जो बखर कहलाते हैं।[१] मराठी बखर भी जैन-प्रबन्धों की तरह छोटे-छोटे अध्यायों में लिखे जाते थे। कुछ बखरों में सम-सामयिक और प्राथमिक इतिहास-लेखन हैं परन्तु अधिकांश गौण इतिहास-लेखन का प्रतिनिधित्व करते हैं।

जैन-प्रबन्धों की तुलना में मराठी बखर कालक्रम तथा ऐतिहासिक झलकियों में निर्बल अवश्य हैं परन्तु वे न तो पूर्वाग्रह में फँसते हैं और न न्याय को दिशाहीन करते हैं। ग्राण्ट डफ चिटणीसकृत बखर की प्रशंसा भी करता है कि इसमें मौलिक कागजातों या मूल प्रतियों से संकलन किया गया है जो उन पूर्वजों से सम्बन्धित है जो रायगढ़, जिन्जी और सतारा के राजदरबारों के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। मराठी-बखर इन दृष्टियों से प्रबन्धों से मेल खाते हैं। हो सकता है कि गुजरात, मालवा, राजस्थान के इतिहास-लेखन की इस विधा का प्रभाव महाराष्ट्र में पड़ा हो।

अन्त में, जैन-चरित और जैन-प्रबन्ध में अन्तर स्पष्ट करने की एक महत्वपूर्ण समस्या शेष रह जाती है।

जैनों में चरित रचने की परम्परा अति प्राचीन और लोकप्रिय रही है। ऐतिहासिक विषयों की क्षणभंगुरता के कारण उनमें ऐतिहासिक तत्व गौण होते गए और काव्य-तत्व को प्रधानता मिलती गई। जैन-चरित प्रायः पौराणिक, रोमांसिक या अर्द्ध ऐतिहासिक शैली में मिलते हैं, जैसे — पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ, त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित, कुमारपालचरित, चन्द्रप्रभचरित, करकण्डुचरिउ, जसहर-

---

१. दे० रालिसन, एच० जी० : सोर्स बुक ऑफ मराठा हिस्टरी, ग्रन्थ १, बम्बई, १९२९, आमुख, पृ० पाँचवाँ; पाण्डे, गोविन्दचन्द्र (सम्पा०) इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धान्त, जयपुर, १९७३, पृ० ९५; वार्डर, ए० के० : ऐन इण्ट्रोडक्शन टू इण्डियन हिस्टोरियोग्रैफी, बम्बई १९७२, अध्याय २६ वाँ।

२. रालिसन, पूर्व निर्दिष्ट, पृ० ४३। बखर भी पौराणिक इतिहास-लेखन की परम्परा का निर्वाह करते हैं। तिथि-विहीनता, घटनाक्रम में भ्रम, अतिमानवीय उपकथाओं के समावेश आदि के दोष इनमें भी पाये जाते हैं।

चरिउ आदि। इनमें विषय-विस्तार मर्यादित होता है।[1] चरित कथात्मक अधिक और वर्णनात्मक कम होते हैं। प्रायः अन्त में नायक किसी प्रेरणा या उपदेश से संसार से विरक्त होकर जैन मुनि बन जाता है। जैन-चरित में कथारम्भ हेतु वक्ता-श्रोता-योजना अवश्य होती है। प्रश्नोत्तर-योजना गुरु-शिष्य, कथाविद्-श्रावक, कवि-कविपत्नी के बीच प्रायः पायी जाती है। चरितों का कथानक जटिल होता है। ये उद्देश्य प्रधान होते है। इनमें अलौकिक, अप्राकृतिक और अतिमानवीय शक्तियों और कार्यों का समावेश अवश्य रहता है।

परन्तु जैन-चरित व जैन-प्रबन्ध में अन्तर बनाये रखना कठिन है। 'चरित' नामाभिधान अपभ्रंश साहित्य में प्रचलित था। उत्तर अपभ्रंश काल में 'प्रबन्ध' ने शनैः-शनैः इसे स्थानापन्न कर दिया। तब यह वैयक्तिक रुचि का विषय हो गया कि अमुक ग्रन्थ को प्रबन्ध कहा जाय अथवा चरित।

इसीलिये कभी-कभी जैन-प्रबन्ध और जैन-चरित को एक समान मान लिया जाता है किन्तु इन दोनों में अन्तर है। प्राचीनता की दृष्टि से जैन-चरित अधिक पुराना है। राजशेखरसूरि के अनुसार तीर्थङ्करों, चक्रवर्तिनों आदि और आर्यरक्षित तक के ऋषियों के जीवन-वृत्तान्त चरित कहलाते हैं। इस कथन का कोई प्राचीन आधार नहीं है। इस विभेद का विद्वानों ने पालन नहीं किया।[2] अतः जैन-चरित पौराणिक जीवनियाँ हैं। हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित जैन-चरित का और मेरुतुङ्ग की प्रबन्धचिन्तामणि जैन-प्रबन्धों का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। जैन-चरित, जैन-प्रबन्ध की अपेक्षा काया में अधिक वृहद् होते हैं। एक ही पुरुष का चरित एक ही ग्रन्थ में आबद्ध किया जा सकता है जबकि जैन-प्रबन्धों के एक ग्रन्थ में कई पुरुषों या घटनाओं के कई छोटे-छोटे प्रबन्ध गूँथे जाते हैं। जैन-चरित अर्द्धऐतिहासिक और पौराणिक होते हैं जबकि जैन-प्रबन्ध अधिकांशतः ऐतिहासिक होते है। साहित्य के रूप व विषय-वस्तु की दृष्टियों से भी इनमें अन्तर है।

---

१. भायाणी, हरिवल्लभ : पउमसिरिचरिउ, भूमिका, पृ० १५।

२. जैहिइलि पृ० १३; लिसमव, पृ० १०३; पाहिनाइ पृ० १ व ३; जैसा-वृइति, भाग ६, पृ० ४१८।

जैन-प्रबन्ध प्राय: गद्य में हैं जबकि जैन-चरित मुश्किल से गद्य में लिखे गये है। पहले वाले सामान्यतया गुजरात, मालवा के श्वेताम्बरों द्वारा लिखे गये हैं जबकि बाद वाले श्वेताम्बरों और दिगम्बरों दोनों द्वारा। जैन-प्रबन्धों में उपकथाएँ या अन्तर्कथाएँ कम हैं परन्तु जैन-चरितों में इनकी बहुलता के साथ-साथ विषयान्तर भी हो जाया करता है। भाषा की दृष्टि से जैन-प्रबन्ध सरल संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में अधिक लिखे हुए हैं किन्तु परवर्ती जैन-चरित मुख्यतया संस्कृत में ही लिखे हुए है जिनकी भाषा अधिक रुढ़िवादी और क्लिष्ट है। कभी-कभी नामाभिधान की दृष्टि से भी इन दोनों में अन्तर स्थापित किया जाता है किन्तु यह सदा सही नहीं ठहरता है। इस दृष्टि से अन्तर स्थापित करने के लिए प्रत्येक ग्रन्थ का अलग-अलग और व्यक्तिगत ढंग से अवलोकन करना पड़ता है। क्योंकि 'प्रभावकचरित', 'कुमारपाल-चरित' आदि ग्रन्थों के चरित नामाभिधान होते हुए भी उनमें प्रबन्धों को ही लिखा गया है।

ऐतिहासिक पहुँच के दृष्टिकोण से भी इन दोनों में काफ़ी अन्तर है। जैन-प्रबन्धों की पहुँच और लेखन-प्रणाली ऐतिहासिक है जबकि जैन-चरितों में इनका अभाव पाया जाता है। जैन-प्रबन्धों में कारणत्व, साक्ष्य, स्रोत, तथ्य, कालक्रम आदि पर विशेष बल दिया जाता है।

अतएव प्रबन्धकोश का ऐतिहासिक विवेचन प्रारम्भ करने से पूर्व प्रबन्धकार की जीवनी व कृतित्व पर प्रकाश डाला जायेगा।

●

अध्याय – २

प्रबन्धकार की जीवनी व कृतित्व

जैन-धर्म की व्यावहारिक उन्नति आचार्यों-सूरियों पर निर्भर है तथा सैद्धान्तिक उन्नति ग्रन्थकारों-इतिवृत्तकारों पर। संयोग से राजशेखरसूरि दोनों ही प्रकार की उन्नति करने वाले सूरि और इतिहासकार दोनों ही थे। वे अपने युग की आकांक्षाओं को शब्द दे सके, युग को बता सके कि उनकी आकांक्षाएँ क्या हैं और उनकी क्रियान्विति भी कर सके। अतः प्रस्तुत अध्याय इतिहास-दर्शन के इस सूत्र पर आधारित है कि इतिहास का अध्ययन करने से पहले इतिहासकार का अध्ययन करना चाहिये।

परन्तु दुर्भाग्य से इतिहासकार राजशेखर की जीवनी के सम्बन्ध में आज तक बहुत कम लिखा हुआ प्राप्त होता है। चूँकि कुछ जीवनियों का इतिहास को गम्भीर योगदान होता है और ग्रन्थकार की जीवनी का ज्ञान उसकी कृतियों को समझने में सहायक सिद्ध होता है, इसलिये प्रबन्धकोशकार राजशेखर की जीवनी व कृतित्व पर प्रकाश डालने का यहाँ पर सर्वप्रथम प्रयास किया गया है।

प्रबन्धकार की जीवनी व कृतित्व की जानकारी के साधन उसके ग्रन्थ तथा ग्रन्थ-प्रशस्ति हैं। राजशेखर का जन्म-स्थान अणहिल्लपुर था। यह प्रबन्धकोश के आन्तरिक व बाह्य साक्ष्यों के आधार पर निर्धारित किया गया है। चूँकि किसी भी स्रोत में राजशेखर के जन्म-स्थान का नामोल्लेख नहीं हुआ है इसलिये प्राप्त तथ्यों के आधार पर विविध सम्भावनाओं का विवेचन करके केवल अनुमान किया जा सकता है। यद्यपि ग्रन्थकार-प्रशस्ति के अनुसार राजशेखर ने प्रबन्धकोश की पूर्णाहुति दिल्ली में की, तथापि आन्तरिक साक्ष्यों से यह भासित होता है कि उसका जन्म-स्थान गुजरात में सम्भवतः अणहिल्लपुर था, न कि दिल्ली। प्रबन्धकोश में अणहिल्लपत्तन का बारह से अधिक स्थानों पर उल्लेख हुआ है; जबकि दिल्ली का केवल चार स्थानों पर। इसके अलावा प्रबन्धकोश में दिल्ली के आस-पास के

नगरों का उतना विस्तृत वर्णन नहीं हुआ है जितना अणहिल्लपत्तन के आस-पास के शत्रुञ्जय, स्तम्भतीर्थ, सोमनाथ, भृगुकच्छ, धवलक्क, श्रीमाल, आबू, जावालिपुर, उज्जयिनी आदि का। प्रबन्धकोश के वाह्य साक्ष्य भी इस मान्यता की पुष्टि करते हैं। विभिन्न प्रतियों के प्राप्ति-स्थान के आधार पर राजशेखर का जन्म-स्थान अणहिल्लपत्तन प्रतीत होता है क्योंकि वहाँ से प्रबन्धकोश की अधिकांश प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं, जबकि दिल्ली से एक भी नहीं।[1] इन तथ्यों से यह प्रतीत होता है कि दिल्ली के राजनीतिक महत्व और उससे राजशेखर के सम्बन्ध के होते हुए भी राजशेखर का अणहिल्लपत्तन से विशेष सम्बन्ध था। यह सम्बन्ध केवल जैन धर्म के कारण नहीं था, कदाचित् हेमचन्द्र का इससे व्यक्तिगत लगाव था। यह सम्भावना समुचित प्रतीत होती है कि राजशेखर के जन्म और उसके प्रारम्भिक वर्षों से यह नगर सम्बन्धित था।

राजशेखर का जन्म तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में हुआ था। इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ सटीक कहना कठिन है। जन्म-काल के निर्धारण के लिए उसकी ग्रंथ-रचना-तिथि १३४८-४९ ई० को आधार मानकर अनुमान लगाया गया है कि उसका जन्म तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में हुआ होगा क्योंकि उन दिनों बहुधा पचास-साठ वर्ष की परिपक्व आयु में ग्रंथ-रचना करने की परम्परा थी। परन्तु दुर्भाग्य से न तो राजशेखर के माता-पिता के ही विषय में ज्ञात है और न उसके बाल्यकाल के बारे में। प्रबन्धकोश-की ग्रन्थकार-प्रशस्ति से इतना अवश्य विदित होता है कि राजशेखर प्रश्नवाहनकुल की कोटिकगण की मध्यम शाखा का था।[2] प्रबन्धकोश के आन्तरिक साक्ष्यों से सिद्ध होता है कि श्वेताम्बर जैन-धर्म का उपासक होते हुए भी उसमें धर्म-सहिष्णुता की पर्याप्त मात्रा थी और राजशेखर हर्षपुरीय गच्छ का था जिसे मलधार गच्छ भी कहते हैं।[3]

---

१. दे० जिनविजय, प्रको, प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० ५-७।

२. प्रको, पृ० १३१; जैपइ, पृ० २२, ५४, २११-२१३, ५६८, ६१६-६१९।

३. दे० प्रको, पृ० १३१ तथा जैपइ, पृ० १९५, ३४३, ३७७, ४८१, ५१९, ५४२, ५६८, ६१७-६१९। हर्षपुर नगर चित्तौड़ के राजा अल्लटराज की

जैन आगमों के अनुसार गच्छ-दीक्षा का पात्र वही व्यक्ति है, जो किसी का उपदेश सुनकर, अपने स्वतन्त्र चिन्तन से संसार की असारता के प्रति दृढ़विश्वासी हो जाता है और जिसमें शाश्वत-सुख (मोक्ष) की तीव्र उत्कण्ठा हो जाती है।

अतः गच्छ-वृद्धि की दीक्षा के बाद राजशेखर ने अध्ययन शुरू कर दिया होगा। प्रबन्धकोश के आन्तरिक साक्ष्यों एवं अन्य उपलब्ध टीकाओं से ज्ञात होता है कि राजशेखर का अध्ययन बड़ा व्यापक था। प्रबन्धकोश में उसने जैन-आगम-ग्रन्थों (सूत्रों) हरिभद्र के ग्रन्थों, लौकिक साहित्य ग्रन्थों, पूर्ववर्ती जैनचरितों व जैन प्रबन्धों, जैनेतर महाकाव्यों, पुराणों एवं ग्रन्थों के स्थान-स्थान पर उल्लेख किये है। राजशेखर ने इनमें से कुछ का मंथन, कुछ का अध्ययन और आलोड़न अवश्य किया होगा।

राजशेखर ने स्वरचित 'न्याय-कन्दली' पञ्जिका में जिनप्रभसूरि को अपने अध्यापक के रूप में स्मरण किया है। उसी प्रकार रुद्रपल्लीय गच्छ के संघतिलक सूरि ने भी सम्यक्त्वसप्ततिकावृत्ति में जिनप्रभसूरि को अपना विद्यागुरु बतलाया है। इसी प्रकार १२९२ ई० में नागेन्द्र-गच्छ के मल्लीषेणसूरि ने अपनी स्याद्वादमञ्जरी मे जिनप्रभसूरि द्वारा प्राप्त सहायता का उल्लेख किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन-प्रभसूरि इस प्रकार के उदीयमानों को अपने अधीन पठन-पाठन का अवसर देते रहते थे। स्वयं राजशेखर ने उनसे 'न्याय-कन्दली' ग्रन्थ का अध्ययन किया था। सम्भवतः उसके बाद ही उसने उक्त ग्रन्थ पर पञ्जिका लिखी हो।

राजशेखर ने प्रबन्धकोश के विभिन्न स्थलों में ग्यारह विद्याओं के नाम गिनाएँ हैं और उनके प्रयोग के भी उल्लेख किये हैं, जैसे — गगन-गामिनीविद्या, गर्दभी विद्या, चक्रेश्वरी, त्रैलोक्यविजयिनी, परकाय-प्रवेश विद्या, जैन गायन, मातुलिङ्गी, सञ्जीवनी विद्या, सर्पपविद्या,

---

रानी हूण राजपुत्री हरीयदेवी के नाम से बसाया गया। वहाँ के जैनसंघ में मज्झिमा शाखा प्रश्नवाहन कुल के आचार्य प्रियग्रन्थ सूरि पधारे। तब से प्रश्नवाहनकुल के गच्छ का नाम हर्षपुरीय पड़ा और राजा कर्ण-देव के समय में हर्षपुरीय गच्छ का नाम मलधार गच्छ पड़ा।

हेमविद्या तथा हेमसिद्धि विद्या। अतः आन्तरिक साक्ष्यों से प्रतीत होता है कि राजशेखर को कम-से-कम इन विद्याओं के विषय में प्रारम्भिक जानकारी अवश्य रही होगी।

राजशेखर अभयदेवसूरि की परम्परा में हुए हैं। अभयदेव नाम के सात सूरिवर भिन्न-भिन्न गच्छों में हो चुके हैं। किन्तु राजशेखर की गुरु-परम्परा वाले अभयदेव हर्षपुरीय गच्छ के सूरि थे जिनका समय १२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।[१] अभयदेवसूरि तो राजशेखर के आध्यात्मिक पूर्वज थे।[२] इन्हीं अभयदेव की परम्परा में तिलकसूरि हुए। राजशेखर, तिलकसूरि के शिष्य थे।

प्रबन्धकोश के अवलोकन से ज्ञात होता है कि राजशेखर को इतिहास और पर्यटन से बड़ा प्रेम था। उन्होंने अपने जीवन में भारत के बहुत से भागों में परिभ्रमण किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात, राजपूताना, मालवा, मध्यप्रदेश, दक्षिण भारत, कर्णाटक, तेलंगाना, उत्तर भारत, दिल्ली प्रदेश, बंगाल-बिहार आदि के अनेक पुरातन एवं प्रसिद्ध स्थानों की उन्होंने यात्रा की थी। इन राज्यों में पड़ने वाले स्थानों के नाम ग्रन्थ में अनेक बार आये हैं जिनकी अकारादिक्रमानुसार सूची आगे दी हुई है।[३]

स्थल-भ्रमण के समय विभिन्न स्थानों के विषय में जो भी इतिहास-गत और परम्पराश्रुत बातें उन्हें ज्ञात हुईं, उनको उन्होंने संक्षेप में लिपिबद्ध कर लिया और इस तरह उन स्थानों का सटीक वर्णन किया है।

अल्बीरूनी ने लिखा है कि सोमनाथ के पूजन के लिए नित्य कश्मीर से पुष्प और गंगा से जल आता था।[४] तो क्या राजशेखर

---

१. मुनि चतुरविजय (सम्पा०) : जैन स्तोत्र-सन्दोह, प्रथम भाग, प्रस्तावना, अहमदाबाद, १९३२, पृ० २१।

२. चागु, पृ० ६५।

३. दे० परिशिष्ट ३।

४. मिश्र, जयशंकर : ग्यारहवी सदी का भारत, वाराणसी, १९६८, पृ० १८३-१८४; दे० वही लेखक : प्रा० भा० का सा० इति०, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९७४, पृ० ६३७।

गुजरात से निकलकर इन प्रदेशों का भ्रमण नही कर सकता था ?

राजशेखर मलधारि गच्छ के थे ।[1] राजशेखर के व्यापक अध्ययन, विविध विद्याओं की जानकारी एवं बृहद् भ्रमण ने उसे सूरि-पद के योग्य वना दिया होगा। उसे कव सूरि-पद प्रदान किया गया इसका पता नहीं चलता। मुहम्मद तुगलक ने जिनप्रभसूरि का दिल्ली दरबार में स्वागत १३२८ ई० में किया था। "उस सत्कार के समय मलधारगच्छीय राजशेखर अथवा अन्य कोई राजशेखर उनके साथ हो ऐसा कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है।"[2] अतः सम्भावना इस वात की है कि १३२८ ई० के पश्चात् ही राजशेखर को सूरि-पद प्राप्त हुआ होगा।

मुहम्मद विन तुगलक कट्टर मुसलमानों की तरह इस्लाम धर्म का पालन नहीं करता था, क्योंकि वह अहलेमाकूलत (विवेकवाद) का हिमायती था न कि अहलेमनकूलत (परम्परावाद) का। १३२८ ई० में सुल्तान ने जैन विद्वान् जिनप्रभसूरि का और १३३३ ई० में अरवी विद्वान् इब्नवतूता का दिल्ली-दरवार में सम्मान किया था।[3] मुहम्मद तुगलक ने जैन विद्वान् को अपने समीप बैठाया, ऐश्वर्य प्रदान करना चाहा, वसाडी उपाश्रय के निर्माण का फरमान प्रेषित किया तथा सूरि को गजारूढ कराकर एक शोभायात्रा निकलवायी। इस सत्कार से दो तथ्य उभड़कर सामने आते हैं। एक तो सूरि के साथ उनके अन्य शिष्य भी सम्मानित हुए होंगे जिनमें राजशेखर भी रहा होगा, क्योंकि उनके दीर्घकालीन दिल्ली-प्रवास और वहीं प्रवन्ध-रचना से इसकी पुष्टि होती है। दूसरे आधुनिक दृष्टिकोण से सुल्तान के चरित्र में इसे एक विशिष्ट गुण मानना चाहिये कि वह अपने युग की धर्मान्धता से ऊपर उठ सका।

---

१. दे० प्रको, पृ० १३१।

२. विनयसागर, महोपाध्याय, निदेशक प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर द्वारा लेखक को लिखे पत्र क्रमांक ४५२ दिनांक २४-९-९१ का उद्धरण।

३. इस्लामिक कल्चर, बीसवां, पृ० १३९; प्रोसीडिंग्स् ऑफ द इ० हि० कांग्रेस, पांचवां, पृ० २९६; मदनगोपाल (अनु०) : इब्नबतूता की भारत-यात्रा, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, १९३१, पृ० १।

जिस तरह जिनप्रभसूरि ने मुहम्मद तुगलक के दरबार में गौरव प्राप्त किया, उसी तरह राजशेखर ने भी प्रधानतया दिल्ली में निवास करने के कारण दिल्ली के इस सुल्तान पर अपना प्रभाव छोड़ा होगा, क्योंकि मुहम्मद तुगलक बहुश्रुत था और राजशेखर मुहम्मद तुगलक का समकालीन भी था।

सूरिपद प्राप्त कर लेने से राजशेखरसूरि की प्रस्थिति में अभिवृद्धि हुई। ऐसी प्रस्थिति के अनुरूप जो भूमिका उन्होंने अदा की वह जैन-इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगी। राजशेखर ने दिल्ली में रहकर जगत् सिंह के पुत्र साह महणसिंह की प्रेरणा से वि० सं० १४०५ (लगभग १३४९ ई०) में चतुर्विंशति-प्रबन्ध (प्रबन्धकोश) की रचना की थी।[१] यहाँ घटना में एक आश्चर्यजनक साम्य देखने को मिलता है। जिनप्रभ ने १३२८ ई० में दिल्ली में रहकर 'राजप्रासाद' नामक शत्रुञ्जय कल्प की रचना की और राजशेखर ने भी ठीक बीस वर्ष बाद उसी दिल्ली में प्रबन्धकोश की रचना की। इतिहास स्वयं को दुहराता है।

राजशेखर की रुचि संगीत की ओर भी थी क्योंकि उसका शिष्य सुधाकलश संगीतशास्त्र का प्रकाण्ड विद्वान् निकला। सुधाकलश ने १३४९ ई० में 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार' की रचना की है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में सुधाकलश ने सूचित किया है कि स्वयं उसके द्वारा १३२३ ई० में रचित 'संगीतोपनिषद्' का यह ग्रन्थ साररूप है। 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार' में छः अध्याय क्रमशः गीत, ताल, स्वर-राग, वाद्य, नृत्यांग और नृत्यपद्धति के प्रकाशन हैं। इसमें कुल ६१० श्लोक हैं।

राजशेखर ने प्रबन्धकोश में गायन-वादन का यथेष्ट उल्लेख किया है। जिनालयों में वाद्य-यन्त्र का घोष होता था। राजशेखर को विभिन्न वाद्य-यन्त्रों का ज्ञान था जिससे इसकी पुष्टि हो जाती है। पणव (ढोल), मृदङ्ग, वीणा, वेणु (वंशी) प्रभृति वाद्य-यन्त्रों के कई बार उल्लेख आए हैं। राग वसंत और राग आन्दोलक के वर्णन

---

१. द्र० प्रको, पृ० १३१; ओझा, हीराचन्द्र : कवि राजशेखर का समय, ना० प्र० पत्रिका, भाग ६, पृ० ३६२ टि०।

भी किये गये हैं।[1]

सुधाकलश मुनि राजशेखरसूरि का शिष्य था, इसका एक और प्रमाण 'एकाक्षरनाममाला'[2] का अन्तिम पद्य है जिसमें ग्रन्थकार सुधाकलश ने अपना परिचय देते हुए अपने को मलधारिगच्छभर्ता गुरु राजशेखरसूरि का शिष्य बताया है।

राजशेखर के निधन की तिथि प्राप्त नहीं होती है किन्तु इतना अवश्य है कि उसने दीर्घायु प्राप्त की थी। उसने १३४८-४९ ई० में प्रबन्धकोश की रचना की थी। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखर फिरोज तुगलक का शासन (१३५१-८८ ई०) अधिक दिनों तक न देख सका, क्योंकि अब वह प्रायः साठ-पैंसठ वर्ष की आयु का हो चुका था। साहित्यिक प्रमाण राजशेखर के लिए अन्तिम तिथि वि० सं० १४१० (तदनुसार १३५२-५३ ई०) प्रदान करते है जब उसने शान्तिनाथचरित का संशोधन किया था। अतः इसी तिथि के आस-पास राजशेखर की मृत्यु हुई होगी।

इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी के अन्त में जन्मे राजशेखर ने व्यापक अध्ययन, पर्यटन व विविध विद्याओं की जानकारी द्वारा सूरिपद प्राप्त कर, मुहम्मद तुगलक के समय में प्रतिष्ठा अर्जित की तथा प्रबन्धकोशादि ग्रन्थों एवं शिष्य-समुदाय को छोड़कर चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में महाप्रयाण किया।

चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में राजशेखर का महाप्रयाण तो हो गया था, किन्तु उसकी कृतियाँ आज भी जीवित है। ये कृतियाँ उसके कवि, टीकाकार, संशोधक, दार्शनिक और इतिहासकार होने के प्रमाण हैं। उसकी कृतियाँ मुख्यतः संस्कृत में रची गयी हैं जिनमें कहीं-कहीं प्राकृत पद्यों का समावेश एक मनोहारी परिवर्तन का सूचक हो जाता है, जैसे — अन्तर्कथा-संग्रह। इसे कथा-संग्रह या विनोदकथासंग्रह,

---

१. दे वही, पृ० ३८, ४८, ८६, ९१, ९२ तथा १०९।

२. विजयकस्तूरसूरि (सम्पा०) 'अभिधानचिन्तामणि-कोश', देवचन्द्र लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड सीरीज, बम्बई, कोश का परिशिष्ट, पृ० २३६-२४० तथा उसी संस्था से प्रकाशित 'अनेकार्थरत्नमञ्जूषा' के परिशिष्ट 'क' में सुधाकलश का ग्रन्थ प्रकाशित है।

कौतुककथा या विनोदकथा भी कहते हैं। यह सरल संस्कृत-गद्य में लिखा गया कथासंग्रह है जिसमें अनेक रसपद कथाओं का संकलन है।[१] इसमें ८६ कथाएँ धार्मिक और नैतिक शिक्षा की हैं और शेष १४ वाक्चातुरी और परिहास द्वारा मनोरंजन की हैं। इसकी सरल शैली और शब्दविन्यासप्रणाली देशज है जो *पञ्चतन्त्र की शैली जैसी है*। संस्कृत, महाराष्ट्री और अपभ्रंश पद्य इसमें प्रचुर रूप से उद्धृत हैं। गाथाओं में किसी व्रत का माहात्म्य और दृष्टान्तकथा देकर समझाया गया है। ग्रन्थरचना के धार्मिक और लौकिक दोनों दृष्टिकोण हैं।

इस ग्रन्थ की कुछ कथाएँ ब्राह्मण साहित्य से और कुछ जैनागमों की टीकाओं से संकलित की गयी हैं। इसकी आठ कथाएँ पुल्ले द्वारा इटालियन भाषा में अनूदित हैं। इसकी एक कथा का "जजमेण्ट ऑफ सोलोमन" नाम से टेसीटोरी ने अंग्रेजी अनुवाद किया है।[२] उसके साथ नन्दिसूत्र की मलयगिरि टीका की कथा भी है, जिसका यूरोप की कथाओं में रूपान्तर हुआ है। १९१४ ई० में मूल पाठ बम्बई से प्रकाशित किया गया है। इस ग्रन्थ का गुजराती अनुवाद १९२१ ई० में जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर द्वारा हुआ है।

राजशेखरसूरि का दूसरा ग्रन्थ *'न्यायकन्दली'* की टीका है। *'न्यायकन्दली'* ग्रन्थ बंगाल निवासी श्रीधर नामक एक अजैन द्वारा रचित है जिस पर राजशेखरसूरि ने एक पञ्जिका वि० सं० १३८५ (१३२८ ई०) में रची थी।[३] *'न्यायकन्दली'* की टीका में राजशेखर-सूरि ने *'प्राकृत प्रबोध'* ग्रन्थ का उल्लेख किया है। *'प्राकृत प्रबोध'* ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रतियाँ अहमदाबाद के लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर में है।[४] *'सिद्धहेमशब्दानुशासन'* के

---

१. देसाई, मोहनलाल दुलीचन्द्र : *जैन गुर्जर कवियों*, भाग १, बम्बई, १९२५ ई०, पृ० १३ टि ; जिरको पृ० ११, ९६, ३५७।

२. दे० इण्डि० एण्टि०, ४२ तथा जैन, हीरालाल : भा० सं० में जैनधर्म का योगदान, भोपाल, १९६२, पृ० १७८।

३. दे० *जिरको २१९ तथा २७८ भी; मिश्र*, उमेश : भारतीय दर्शन, लखनऊ, १९७५, पृ० २२८।

४. जैसाबृइति, भाग ५, पृ० ७१।

आठवें अध्याय पर मलधारि उपाध्याय नरचन्द्रसूरि ने अवचूरि रूप 'प्राकृत-प्रबोध' ग्रन्थ की रचना की है। आचार्य जिनप्रभसूरि ने राजशेखरसूरि की 'न्यायकन्दली' में और रुद्रपल्लीय संघतिलकसूरि की १३६५ ई० में रचित 'सम्यक्त्वसप्ततिवृत्ति' में भी सहायता की थी। १३३० ई० में राजशेखरसूरि ने हेमचन्द्रकृत 'प्राकृत द्वयाश्रय-काव्य' पर एक वृत्ति लिखी।[1]

चौथा ग्रन्थ स्याद्वादकलिका है। इसमें ४१ श्लोक हैं। यह हीरा-लाल हंसराज जामनगर द्वारा (युक्तिप्रकाश और अष्टक के साथ) प्रकाशित है।

राजशेखर विरचित 'षड्दर्शनसमुच्चय' यशोविजय जैन ग्रन्थ-माला के १७वें पुष्प के रूप में वाराणसी से प्रकाशित है। इसमें मात्र १८० पद हैं। निजगुरु का भक्तिपूर्वक स्मरण कर राजशेखर ने इस ग्रन्थ की रचना शुरू की है। इसमें जैनदर्शन, सांख्य, जैमिनीय, शैव, वैशेषिक और बौद्ध दर्शनों के परीक्षण किये गये हैं। षड्दर्शनसमुच्चय के २९वें पद में 'सिद्धान्तसार' नामक ग्रन्थ का उल्लेख आया है, जो किसी जैन लेखक द्वारा तर्कशास्त्र पर लिखा हुआ एक बड़ा कर्कश (कठिन) ग्रन्थ है।[2] यह कृति राजशेखर की जीवनी के दार्शनिक पक्ष का निरूपण करती है।

सुभाषित और सूक्ति के रूप में जैन मनीषियों की प्राकृत और संस्कृत में अनेक रचनाएँ मिलती है। जैसे प्राकृत में धर्मदासगणि कृत उपदेशमाला एवं हेमचन्द्राचार्य का योगशास्त्रप्रकाश तथा संस्कृत में अमितगति का सुभाषितरत्नसन्दोह। राजशेखर कृत 'उपदेशचिन्ता-मणि' इसी परम्परा में संस्कृत में रची गयी है।

'सूरिमन्त्र नित्यकर्म' नामक ग्रन्थ में मलधारी गच्छ के सम्प्रदाय के लिये विहित नित्यकर्म के सूरिमन्त्र हैं। राजशेखर ने इनसे सम्बन्धित

---

१. लेविसको, पृ० ४१।

२. सिद्धान्तसार इत्याद्यास्तर्काः परमकर्कशाः।
तेषां जयश्रीदानाय प्रगल्भन्ते पदे पदे॥

षड्दर्शनसमुच्चय, पद २९।

किंचित विचार व्यक्त किये हैं।[1]

कात्यायन के 'कातन्त्रव्याकरण' के आधार पर आचार्य राजशेखरसूरि ने 'वृत्तित्रय निबन्ध' नामक ग्रन्थ की रचना की है, ऐसा उल्लेख 'बृहट्टिप्पणिका' में है।[2]

जिन-रत्न-कोश में 'चतुरशीतिकथा' और 'दानषट्त्रिंशिका' की रचना का श्रेय भी राजशेखर को दिया गया है किन्तु ये ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं। एक अन्य टीका 'रत्नाकरावतारिका-पञ्जिका' के रचने का श्रेय भी उसे दिया जाता है। 'रत्नाकरावतारिका' पूर्णिमा गच्छ के गुणचन्द्र के शिष्य ज्ञानचन्द्रसूरि द्वारा लिखा गया था, जिस पर राजशेखर ने सम्भवतः टिप्पण लिखा। परन्तु राजशेखर का एक काव्य 'नेमिनाथ फागु' ऐसा है जो पुरानी हिन्दी में रचा गया है।

मो० दु० देसाई ने 'नेमिनाथ फागु' का रचनाकाल वि० सं० १४०५ (१३४८ ई०) के लगभग स्वीकार किया है।[3] हिन्दी के २७ पद्यों के छोटे काव्य 'नेमिनाथ फागु' में २२वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ और राजुल की कथा का काव्यमय निरूपण हुआ है।[4] नेमिनाथ कृष्ण के छोटे भाई थे। जूनागढ़ के राजा उग्रसेन की कन्या राजमती (राजुल) के साथ उनका विवाह निश्चित हुआ। बारात गयी, किन्तु भोज्य पदार्थ बनने के लिए एकत्र किये गये पशुओं के क्रन्दन से दयार्द्र होकर उन्होंने वैराग्य ले लिया। वे गिरिनार पर तप करने चले

---

१. 'श्रीमलधारीगच्छसम्प्रदायागतस्य श्रीसूरिमन्त्रस्य किंचिद्विचारों लिख्यते।' सूरिमन्त्र नित्यकर्म, शाह डाह्याभाई महोकमलाल, अहमदाबाद, १९३०, पृ० १।

२. जैसाबृइति भाग ५, पृ० ५३।

३. देसाई, मोहनलाल दुलीचन्द्र : जैन गुर्जर कविओ, भाग १, बम्बई, १९२५, पृ० १३ पादटिप्पणी।

४. सिद्धि जेहिं सइ वर चरिअ ते तित्थयर नमेवी।
फागुबंधि बहु नेमि जिणु गुण गाएसउ केवी॥
राजल देविसउं सिद्धि गएउ सो देउ थुणीजइ।
मलहारिहिं रायसिहर किउ फागु रमी जइ॥

गये। राजुल ने दूसरा विवाह नहीं किया और नेमिनाथ के भक्तिपूर्ण विरह में समूचा जीवन व्यतीत कर दिया।

प्रबन्धकोश १३४८-४९ ई० में रचा गया था, जिस पर राजशेखर की ख्याति टिकी है। अन्त मे राजशेखर को 'शान्तिनाथचरित' के संशोधन का भी श्रेय दिया जाता है। 'शान्तिनाथचरित' संस्कृत में बृहद्गच्छ के गुणभद्रसूरि के शिष्य मुनिभद्र द्वारा लिखा गया था। यह १९ काण्डों में है जिसमें लगभग ५००० श्लोक हैं। यह बनारस से प्रकाशित है। राजशेखर ने १३५२-५३ ई० मे शान्तिनाथचरित का संशोधन किया था।[1]

इस प्रकार राजशेखर की दीर्घकालिक जीवनी और विशाल कृतित्व ने भारत के अनेक भागों में एक नवीन विचारधारा प्रवाहित की—"ते नर वर थोरे जग माहीं।" चूंकि उन्होंने उस धारा का स्वच्छ जल मध्यकालीन समाज के लिए सुगम करा दिया, इसलिये भी वे हमारी अभ्यर्थना के अधिकारी हैं। राजशेखर की इन कृतियों से उनकी जीवनी के बहुर्मुखी पक्षों का उद्घाटन होता है। वह एक लेखक, संशोधक, टीकाकार, कवि, दार्शनिक और इतिहासकार था। अगले अध्याय में इसके प्रमुख ग्रन्थ प्रबन्धकोश का परिचय दिया जायेगा।

●

---

१. जिरको, पृ० ३८०, शास्त्री, नेमिचन्द्र : संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, भा० ज्ञा० पी० प्रकाशन, दिल्ली, १९७१, पृ० २१४।

अध्याय – ३

ग्रन्थ-परिचय

ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विकास के दो रूप देखने को मिलते है— रेखावत् और चक्रवत्। रेखावत् में मानव-जाति एक निश्चित गन्तव्य की ओर सीधी रेखा में बढ़ती है। चक्रवत् में मानवता एक समान अवस्था अथवा अवस्थाओं को पुनः-पुनः प्राप्त हुआ करती है। प्रबन्ध-कोश की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विकास रेखावत् रूप में दिखायी पड़ता है। परन्तु इसकी राजनीतिक व साहित्यिक पृष्ठभूमि में चक्र-वत् रूप सक्रिय है। राजनीति में परिवर्तन और साहित्य का सर्जन चक्रीय गति में पुनः-पुनः दीख पड़ता है, क्योंकि देश की राजनीतिक व सामाजिक परिस्थितियाँ साहित्य का रूप निर्धारण करने वाली प्रेरक शक्तियाँ हैं।

सिद्धराज व कुमारपाल के ऐश्वर्यकाल में द्वयाश्रय जैसे महाकाव्य भी रचे जा सके, किन्तु तुगलकयुगीन भारत की राजनीतिक व सामा-जिक दशाओं के अनुरूप गुजरात, मालवा व दिल्ली में महाकाव्य प्रभृति कृतियों के स्थान पर लघु अध्यायपरक साहित्य व इतिवृत्त की विधा ही प्रस्फुटित हुई। कालान्तर में तुलसी ने महाकाव्य की रचना अकबर के राजत्वकाल में की जबकि बाबर या हुमायूं के अस्थिर शासन-काल में कबीर या नानक द्वारा साहित्य के उक्त रूप की सर्जना न हो सकी थी। अतः साहित्यिक और इतिवृत्तात्मक कृतियों का पल्लवन समाज की रुचि और उन रचनाओं के पठन या श्रवण के समयावकाश पर भी निर्भर करता है।

वस्तुत, भारतीय इतिहास में कोई ऐसा काल नहीं था जब सम्पूर्ण भारत में केवल मुसलमानों का ही शासन रहा हो और हिन्दुओं की राजसंस्था समूल नष्ट हो गई हो। अरबों का सिन्ध पर आक्रमण भारतीय इतिहास की एक उपकथा मात्र बनकर रह गई थी। उस समय उत्तर भारत में छोटे-छोटे राजपूत राज्य थे। दक्षिण के पूर्व-

मध्यकालीन राजवंशों जैसे — गंग, कदम्ब, चालुक्य और राष्ट्रकूटों ने जैनों को प्रश्रय दिया। तुर्की आक्रमणों के बाद दास और खिल्जी राजवंशों का शासन हुआ। भारतवर्ष के तुर्की राज्य में हिन्दू कर्मचारियों को प्रशासन से पृथक् नहीं रखा जा सकता था क्योंकि ऐसा करने से प्रशासनिक व्यवस्था ही समाप्त हो सकती थी और देश में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जाती। फिर भी राजवंशीय परिवर्तन द्रुतगति से होने लगे। तुगलक शासन के समय भी दक्षिण में विजयनगर का हिन्दू राज्य अत्यन्त शक्तिशाली हो गया था।

मुहम्मद बिन तुगलक (१३२५-५१ ई०) के शासन-काल में रतन, भैरो और धराधर अधिक से अधिक उन्नति करके प्रान्तीय वज़ीर के पद पा सके। फलतः धर्मनिरपेक्ष राजनीति में वह अलाउद्दीन से बहुत आगे बढ़ गया था। इसके अतिरिक्त मुहम्मद तुगलक सत्य की खोज में योगियों की संगति करता था और दर्शन समझने के लिए उसने संस्कृत भी सीख ली थी। इब्नबतूता ने लिखा है कि एक बार मुहम्मद तुगलक ने एक हिन्दू को १७ करोड़ में दौलताबाद का ठेका दिया था।[1] उसने समरसिंह को तेलंगाना का सूबेदार बनाकर भेजा था। उसने जिनप्रभसूरि, राजशेखरसूरि, महेन्द्रसूरि, सोमप्रभसूरि और सोमतिलकसूरि के प्रति उदारता दिखलायी थी।[2] अतः मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में हिन्दुओं को अधिक सम्मान मिला, जिसको देखकर अन्य दरबारियों को ईर्ष्या होने लगी।

उपर्युक्त राजनीतिक पृष्ठभूमि का साहित्यिक क्रिया-कलापों पर प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। इस युग में आस्तिकता की प्यास अत्यधिक थी। शंकर का दर्शन वेदान्त का चरमोत्कर्ष था जिसके

---

१. ईश्वरी प्रसाद : भारतीय मध्ययुग का इतिहास, इलाहाबाद, १९५५, पृ० ५१५। मध्यकालीन योरोप की भाँति हिन्दुस्तान के लोग भी मन्त्र-तन्त्र, चमत्कार आदि में विश्वास करते थे और मुहम्मद तुगलक भी हिन्दू जोगियों में चमत्कार देखा करता था (वही पृ० ५१७)।

२. शेठ, सी० बी० : जैनिज्म इन गुजरात, पृ० १९१; प्रोसीडिंग्स ऑफ इण्डियन हिस्टरी कांग्रेस, १९४१, पृ० ३०१-३०२; हुसैन, आगा मेहदी : तुगलक डायनेस्टी, कलकत्ता, १९६३, पृ० ३१५ व ३२२।

फलस्वरूप मानव-मस्तिष्क में वेदों की मान-प्रतिष्ठा बढ़ी। अतः मानव साहित्य की ओर पुनः झुका और श्रेष्ठ धार्मिक एवं इतिवृत्तात्मक साहित्य का सृजन हुआ।

इस शताब्दी में ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार, बौद्ध-धर्म का अपनी जन्मभूमि से लोप और जैन-धर्म का भारत के केवल एक भाग गुजरात और राजपूताने में परिसीमन हो रहा था। विजयनगर, वारंगल और गुजरात के हिन्दू शासकों ने संस्कृत के विकास के लिए अवश्य योगदान किया। कुछ अंश तक दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन के कारण भी संस्कृत का विकास हुआ।

इस युग के भारत ने संस्कृत साहित्य की विभिन्न विधाओं में ह्रास को देखा। साहित्य का सामान्य व्यक्ति से सम्पर्क टूट गया। साहित्य पण्डितों और राजसभाओं तक सीमित रह गया। साहित्य और सामान्यजन के बीच में एक विस्तृत अन्तराल पैदा हो गया। राजवंशों के शासक संस्कृत-विद्या को प्रोत्साहन देने लगे। इस युग का साहित्य पुरानी लीक पर चला, जिसमें प्रेरणा और मौलिकता का अभाव था। ऐतिहासिक काव्यों की रचना हुई लेकिन संस्कृत में ऐतिहासिक कृतियों की कम रचना हुई। कश्मीरी पण्डित बिल्हण ने 'विक्रमांकदेवचरित' लिखा और कल्हण ने 'राजतरंगिणी'। जैन लेखकों ने भी संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में अपनी योग्यता सिद्ध की, जिनमें हेमचन्द्र का नाम अति प्रसिद्ध है। वह कुमारपालचरित में चालुक्य कुमारपाल की जीवनी का वर्णन करता है। यह द्वयाश्रय काव्य भी कहा जाता है। १२वीं शताब्दी के अन्त में जयानक ने पृथ्वीराजविजय लिखी जो चाहमान पृथ्वीराज तृतीय की शिहाबुद्दीन गोरी पर विजयों का वर्णन करता है। १३वीं शताब्दी में सोमेश्वर रचित कीर्तिकौमुदी और अरिसिंह कृत सुकृतसंकीर्तन गुजरात के बघेल राजाओं के मन्त्री वस्तुपाल की प्रशंसा में रची गयी। उदयप्रभसूरि ने सुकृतकीर्ति-कल्लोलिनी नामक काव्य वस्तुपाल के सम्बन्ध में लिखा। बालचन्द्रसूरि का वसन्तविलास गुजरात के शासकों पर एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

इस साहित्यिक पृष्ठभूमि में मुस्लिम साहित्यकारों एवं इतिवृत्तकारों का योगदान और राजकीय संरक्षण भी उल्लेखनीय है। कुतु-

बुद्दीन ने विद्वानों एवं कवियों के प्रति उदारता का व्यवहार किया जिससे उसे 'लाखवख्श' की उपाधि से विभूषित किया गया। इल्तुतमिश के दरबार में ख्वाजा आबू नस्र (नासरी), मुहम्मद रुहानी, नूरुद्दीन मुहम्मद औफी इत्यादि को आश्रय प्राप्त हुआ था। औफी ने 'लुबाबुल अलबाब' और "जवामेउल हिकामातवा लवामी उररिवायात" नामक ग्रन्थ लिखे। नासिरुद्दीन के दरबार में फखरुद्दीन-नूनाकी, अमिद और मिनहाजुससिराज प्रमुख विद्वान थे। अमीर खुसरो नासिरुद्दीन के शासनकाल में भारत आया। उसने दासवश, खल्जी और तुगलक वंश के ११ सुल्तानों को अपने जीवनकाल में गद्दी पर बैठते और उतरते देखा। बलबन के समय मे खुसरो और मीर हसन देहलवी को संरक्षण प्राप्त हुआ था। खुसरो ने विभिन्न विषयों पर ९९ ग्रन्थों की रचना की।

विद्या के महान् संरक्षक मुहम्मद बिन तुगलक (१३२५-'५१) के शासनकाल में इब्नबतूता भारत आया और जियाउद्दीन बरनी १७ वर्षों से अधिक उसके राजदरबार से सम्बन्धित रहा। उसका प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ 'तारीख-ए-फीरोजशाही' है। 'सनाये मुहम्मदी', 'इनायतनामाये इलाही', 'हसरतनामा' आदि अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ है। बद्रुद्दीन मुहम्मद चाच ने दीवाना और शाहनामा तथा इसामी ने 'फुतुहुस्सलातीन' लिखा।

लगभग इसी समय जैन प्रबन्धकारों ने भी अनुश्रुतियों और परम्पराओं के आधार पर ऐतिहासिक वृत्तान्तों का संग्रह सम्पन्न किया। जैन विद्वानों को लेखन-कार्य में साधुवर्ग और समाज की ओर से अनेक सुविधाएँ प्राप्त थीं। इस काल का जैन-धर्म अधिकांश व्यापारिक वर्ग के हाथ में था। दक्षिण और पश्चिम भारत में धनी व्यापारिक वर्ग के संरक्षण में जैन-धर्म बड़ा ही फला-फूला। दिल्ली, आगरा और अहमदाबाद के कई जैन परिवारों का उनके व्यापारिक सम्बन्धों एवं विशाल धनराशि के कारण, दरबारों में बड़ा प्रभाव था। अतः इन राजनीतिक, सामाजिक व साहित्यिक परिस्थितियों में प्रभाचन्द्र रचित 'प्रभावकचरित', मेरुतुङ्ग कृत 'प्रबन्धचिन्तामणि' व 'विचारश्रेणी', जिनप्रभसूरि विरचित 'विविधतीर्थकल्प' और राजशेखरसूरि प्रणीत 'प्रबन्धकोश' ने प्रसिद्धि प्राप्त की।

फलस्वरूप मानव-मस्तिष्क में वेदों की मान-प्रतिष्ठा बढ़ी। अतः मानव साहित्य की ओर पुनः झुका और श्रेष्ठ धार्मिक एवं इतिवृत्तात्मक साहित्य का सृजन हुआ।

इस शताब्दी में ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार, बौद्ध-धर्म का अपनी जन्मभूमि से लोप और जैन-धर्म का भारत के केवल एक भाग गुजरात और राजपूताने में परिसीमन हो रहा था। विजयनगर, वारंगल और गुजरात के हिन्दू शासकों ने संस्कृत के विकास के लिए अवश्य योगदान किया। कुछ अंश तक दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन के कारण भी संस्कृत का विकास हुआ।

इस युग के भारत ने संस्कृत साहित्य की विभिन्न विधाओं में ह्रास को देखा। साहित्य का सामान्य व्यक्ति से सम्पर्क टूट गया। साहित्य पण्डितों और राजसभाओं तक सीमित रह गया। साहित्य और सामान्यजन के बीच में एक विस्तृत अन्तराल पैदा हो गया। राजवंशों के शासक संस्कृत-विद्या को प्रोत्साहन देने लगे। इस युग का साहित्य पुरानी लीक पर चला, जिसमें प्रेरणा और मौलिकता का अभाव था। ऐतिहासिक काव्यों की रचना हुई लेकिन संस्कृत में ऐतिहासिक कृतियों की कम रचना हुई। कश्मीरी पण्डित बिल्हण ने 'विक्रमांकदेवचरित' लिखा और कल्हण ने 'राजतरंगिणी'। जैन लेखकों ने भी संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में अपनी योग्यता सिद्ध की, जिनमें हेमचन्द्र का नाम अति प्रसिद्ध है। वह कुमारपालचरित में चालुक्य कुमारपाल की जीवनी का वर्णन करता है। यह द्वयाश्रय काव्य भी कहा जाता है। १२वीं शताब्दी के अन्त में जयानक ने पृथ्वीराजविजय लिखी जो चाहमान पृथ्वीराज तृतीय की शिहाबुद्दीन गोरी पर विजयों का वर्णन करता है। १३वीं शताब्दी में सोमेश्वर रचित कीर्तिकौमुदी और अरिसिंह कृत सुकृतसंकीर्तन गुजरात के बघेल राजाओं के मन्त्री वस्तुपाल की प्रशंसा में रची गयी। उदयप्रभसूरि ने सुकृतकीर्ति-कल्लोलिनी नामक काव्य वस्तुपाल के सम्बन्ध में लिखा। बालचन्द्रसूरि का वसन्तविलास गुजरात के शासकों पर एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है।

इस साहित्यिक पृष्ठभूमि में मुस्लिम साहित्यकारों एवं इतिवृत्तकारों का योगदान और राजकीय संरक्षण भी उल्लेखनीय है। कुतु-

बुद्दीन ने विद्वानों एवं कवियों के प्रति उदारता का व्यवहार किया जिससे उसे 'लाखवख्श' की उपाधि से विभूषित किया गया। इल्तुतमिश के दरबार में ख्वाजा़ आवू नस्र (नासरी), मुहम्मद रुहानी, नूरुद्दीन मुहम्मद औफी इत्यादि को आश्रय प्राप्त हुआ था। औफी ने 'लुवावुल अलवाव' और "जवामेउल हिकामातवा लवामी उररिवायात" नामक ग्रन्थ लिखे। नासिरुद्दीन के दरबार में फख़रुद्दीन-नूनाकी, अमिद और मिनहाजुससिराज़ प्रमुख विद्वान थे। अमीर खुसरो नासिरुद्दीन के शासनकाल में भारत आया। उसने दासवंश, खल्जी और तुगलक वंश के ११ सुल्तानों को अपने जीवनकाल में गद्दी पर बैठते और उतरते देखा। वलवन के समय में खुसरो और मीर हसन देहलवी को संरक्षण प्राप्त हुआ था। खुसरो ने विभिन्न विषयों पर ९९ ग्रन्थों की रचना की।

विद्या के महान् संरक्षक मुहम्मद बिन तुगलक (१३२५-५१) के शासनकाल में इब्नबतूता भारत आया और जियाउद्दीन बरनी १७ वर्षों से अधिक उसके राजदरबार से सम्बन्धित रहा। उसका प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ 'तारीख़-ए-फीरोज़शाही' है। 'सनाये मुहम्मदी', 'इनायतनामाये इलाही', 'हसरतनामा' आदि अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। वद्रुद्दीन मुहम्मद चाच ने दीवाना और शाहनामा तथा इसामी ने 'फ़ुतुहुस्सलातीन' लिखा।

लगभग इसी समय जैन प्रबन्धकारों ने भी अनुश्रुतियों और परम्पराओं के आधार पर ऐतिहासिक वृत्तान्तों का संग्रह सम्पन्न किया। जैन विद्वानों को लेखन-कार्य में साधुवर्ग और समाज की ओर से अनेक सुविधाएँ प्राप्त थीं। इस काल का जैन-धर्म अधिकांश व्यापारिक वर्ग के हाथ में था। दक्षिण और पश्चिम भारत में धनी व्यापारिक वर्ग के संरक्षण में जैन-धर्म बड़ा ही फला-फूला। दिल्ली, आगरा और अहमदाबाद के कई जैन परिवारों का उनके व्यापारिक सम्बन्धों एवं विशाल धनराशि के कारण, दरबारों में बड़ा प्रभाव था। अतः इन राजनीतिक, सामाजिक व साहित्यिक परिस्थितियों में प्रभाचन्द्र रचित 'प्रभावकचरित', मेरुतुङ्ग कृत 'प्रवन्धचिन्तामणि' व 'विचारश्रेणी', जिनप्रभसूरि विरचित 'विविधतीर्थकल्प' और राजशेखरसूरि प्रणीत 'प्रबन्धकोश' ने प्रसिद्धि प्राप्त की।

१. रचना-काल व स्थान

उक्त राजनीतिक व साहित्यिक पृष्ठभूमि में राजशेखर ने अपने ग्रन्थों की रचना की थी। उसने प्रवन्धकोशान्तर्गत ग्रन्थकार-प्रशस्ति में लिखा है कि 'शरगगनमनुमिताब्दे' में ज्येष्ठ मास मूल नक्षत्र शुक्लपक्ष की सप्तमी के दिन यह शास्त्र रचा गया।[1] यहाँ पर ग्रन्थ-रचना की तिथि शब्दों में दी गयी है। 'शरगगनमनुमिताब्दे' को भारतीय तिथि-शैली के अनुसार दिया गया है और इसे विपरीत क्रम से पढ़ने पर संवत् १४०५, तदनुसार १३४८-४९ ई० की तिथि प्राप्त होती है। 'मिताब्दे' का अर्थ हुआ संवत्सर, मनु हुए १४, गगन का गणितार्थ हुआ ० और शर का प्रयोग ५ के लिये हुआ है। अतः प्रवन्धकोश की रचना का समय वि० सं० १४०५ है। इससे बढ़कर राजशेखर ने ग्रन्थ-रचना के स्थान के सम्बन्ध में यह महत्वपूर्ण सूचना दी है कि महणसिंह ने अपना आवास देकर दिल्ली में इस ग्रन्थरत्न को सम्पन्न कराया।[2] अतः प्रवन्धकोश की रचना का स्थान मुस्लिम शासकों की राजधानी दिल्ली नगर था।

यदि ब्राह्मण कल्हण ने कश्मीर में और जैनसूरि मेरुतुङ्ग ने जैन-बहुल प्रान्त गुजरात में इतिहास रचा तो इतिहासज्ञ राजशेखरसूरि ने जैन होते हुए भी मुस्लिम-बहुल प्रदेश की राजधानी दिल्ली में प्रवन्ध-कोश का जिस साहस से प्रणयन किया वह कम स्तुत्य नहीं है।

२. शीर्षक

ग्रन्थकारों को अपने ग्रन्थों का नाम ऐसा रखना चाहिए कि शीर्षक स्वयं उनके ग्रन्थों की विषयवस्तु और मुख्य विचारधारा को स्पष्ट कर दे। कभी-कभी शीर्षक ग्रन्थों की प्रकृति पर भी प्रकाश डालते हैं। राजशेखर ने अपने ग्रन्थ का शीर्षक विशेष सावधानी से रखा है।

उसके इस ग्रन्थ को अब तक अग्रलिखित चार विभिन्न नामों से जाना जाता है।

---

१. "शरगगनमनुमिताब्दे ज्येष्ठामूलीयधवलसप्तम्याम् ।
निष्पन्नमिदं शास्त्रम् ··· ···· ··· ···· ॥" प्रको, पृ० १३१।

२. "···· ···· महणसिंहः। डिल्ल्यां स्ववत्तवसतौ ग्रन्थमिमं कारयामास ॥"
प्रको, पृ० १३१।

(१) प्रवन्धकोश,
(२) चतुर्विंशतिप्रवन्ध,
(३) प्रवन्धचतुर्विंशति और
(४) प्रवन्धामृतदीर्घिका।

इनमें से प्रथम दो शीर्षक—'प्रवन्धकोश' और 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध' प्रायः समान रूप से प्रसिद्ध हैं। पहले शीर्षक में प्रवन्ध और कोश शब्द प्रयुक्त हुए है। जो ग्रन्थ प्रवन्धों का खजाना हो वही प्रवन्धकोश पुकारा जाना चाहिए। विण्टरनित्ज ने 'प्रवन्धकोश' शीर्षक का अंग्रेजी में 'ट्रेजरी ऑफ स्टोरीज' अर्थात् कथाओं का खजाना अनुवाद किया है[1] जो उचित नही है। 'प्रवन्धकोश' शीर्षक यह इंगित करता है कि इसमें के कुछ प्रवन्ध प्रधानतया पूर्ववर्ती प्रवन्धों पर आधारित हैं, अथवा उनके कुछ अंश शब्दशः नकल कर लिये गए है, या गद्य रूप में परिणित कर दिये गए हैं अथवा संस्कृत में अनूदित है। इस प्रकार कुल चौवीस प्रवन्धों में से उन चार को छोड़कर, जिन्हें राजशेखर का मौलिक योगदान कहा जा सकता है, शेप संकलन हैं या एकत्रीकरण, यद्यपि उनमें कतिपय परिवर्तन और संशोधन किये गए है।

दूसरा शीर्षक 'चतुर्विंशतिप्रवन्ध' भी सार्थक है क्योंकि इसे इसके प्रवन्धों की संख्या के आधार पर ऐसा पुकारा जाता है जो कुल चौवीस हैं। राजशेखर के अनुसार दस जैन आचार्यों, चार कवियों, सात राजाओं और तीन सामान्यजनों के प्रवन्ध हैं[2], और उन्हें प्रवन्धकार ने क्रमानुसार संख्या प्रदान की है। एक जैन के लिए चौवीस की संख्या अति पवित्र मानी जाती है क्योंकि तीर्थङ्करों की संख्या भी 'चतुर्विंशति' है। इन कारणों से प्रेरित होकर राजशेखर ने अपने ग्रन्थ का शीर्षक 'चतुर्विंशति प्रवन्ध' रखा होगा। इसे 'प्रवन्ध-चतुर्विंशति' भी पुकारा जाता है।

---

१. विण्टरनित्ज : हिइलि भाग २, पृ० ५२०।

२. "तत्र सूरिप्रवन्धादश कविप्रवन्धाश्चत्वारः राजप्रवन्धाः सप्त, राजाङ्गश्रावकप्रबन्धास्त्रयः एवं चतुर्विंशति।"

प्रको पृ० ९-१०।

ग्रन्थ का चौथा शीर्षक 'प्रबन्धामृतदीर्घिका' है ।[1] इसका आशय है 'प्रबन्धरूपी अमृत का कुण्ड'। प्रथम शीर्षक 'प्रबन्धकोश', ग्रन्थान्त में दो बार और द्वितीय शीर्षक 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध' भी ग्रन्थारम्भ और ग्रन्थान्त में दो बार प्रयुक्त किये गए हैं। अतः इन शीर्षकों की आन्तरिक महत्ता यह है कि कोश होने के नाते यह ग्रन्थ अध्येता या पाठक को वांछित प्रबन्ध प्रदान कर सकता है और इनकी बाह्य महत्ता यह है कि यह ग्रन्थ अन्य ग्रन्थकारों को प्रबन्धरूपी अमृत प्रदान करता है।

३. संस्करण

पाश्चात्य विद्वानों में सबसे पहले इस 'प्रबन्धकोश' नामक ग्रन्थ का परिचय ए० के० फोर्ब्स को १८५६ ई० के पूर्व हुआ। अब तक इसके तीन संस्करण क्रमशः पाटन, जामनगर और शान्ति-निकेतन से निकाले जा चुके हैं। इसका प्रथम प्रकाशन १९२१ ई० में हेमचन्द्र सभा, पाटन द्वारा हुआ। पाण्डुलिपि के आकार में छपा यह मात्र १३८ पृष्ठों का प्रकाशन था। कालान्तर में वीरचन्द्र और प्रभुदास ने इसको व्याकरण की दृष्टि से संशोधित करके हीरालाल हंसराज, जामनगर से १९३१ में पुनर्प्रकाशित किया।

१९३५ ई० में मुनि जिनविजय ने राजशेखरकृत प्रबन्धकोश का आलोचनात्मक सम्पादन किया और शान्तिनिकेतन से सिंघी जैन ज्ञानपीठ के *ग्रन्थांक ६ के रूप में एक प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित* किया, जो भिन्न-भिन्न पाठभेद सहित विशेषनामानुक्रम समन्वित मूल-ग्रन्थ है। प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ में इसी संस्करण का प्रयोग किया गया है। पाठभेद संग्रह करने में जो शब्द व्याकरण या भाषा की दृष्टि से शुद्ध प्रतीत हुए उन्हें जिनविजय ने मूल में लिखा और अन्य प्रतियों के शब्दों को पाद-टिप्पणियों में वैज्ञानिक रीति से संग्रह किया, जिससे मूल का अध्ययन करने में सहायता मिलती है। इस आलोचनात्मक संस्करण में ग्रन्थ का पाठ-संशोधन करने में जिनविजय ने उन छः अच्छी प्राचीन पाण्डुलिपियों (प्रतियों) की सहायता ली है जो

---

१. प्रबको, पृ० ११६ व २६५।

पाटन संघ के ग्रन्थ-भण्डार से, अहमदाबाद के सुप्रसिद्ध डेला-उपाश्रय में रक्षित ग्रन्थ-भण्डार से तथा हेमसभा से प्राप्त हुई थी।

इस बहुमूल्य संस्करण में आठ पृष्ठों की हिन्दी में प्रस्तावना, तीन परिशिष्ट तथा दो सूचियाँ है। सिंघी जैन ग्रन्थमाला के संस्थापक तथा ग्रन्थमाला सम्पादक की प्रशस्तियाँ भी दी गई है। यह संस्करण मूल ग्रन्थ के आठ पृष्ठों के हाफटोन ब्लॉक चित्रों से सुसज्जित है।

४. अनुवाद

अनुवाद मूल ग्रन्थ को अन्यान्य भाषा-भाषी तक पहुँचाते हैं। दुर्भाग्य से प्रबन्धकोश का अनुवाद अब तक केवल दो बार गुजराती में ही हो सका है — एक १८९५ ई० में मणिलाल नभुभाई द्विवेदी द्वारा और दूसरा १९३४ ई० में हीरालाल रसिकदास कापड़िया द्वारा।

प्रथम अनुवाद द्विवेदीजी ने 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध' शीर्षकान्तर्गत भूतपूर्व बड़ौदा रियासत के शिक्षा-विभाग के तत्वावधान में किया था। किन्तु इस भाषान्तर को अनुवाद न कहकर एक विचित्र प्रकार का वर्णन ही कहना चाहिए जो पुरातन शैली की भाषा में पुरानी लीक पर किया गया था। अनुवादक ने इसमें अपने विचार भी प्रविष्ट कर दिये है। प्राकृत पद्यों के अनुवाद में भी त्रुटि रह गयी थी।

१९३४ ई० में फोर्ब्स गुजराती सभा बम्बई के तत्वावधान में कापड़िया ने 'प्रबन्धकोश' का दूसरा अनुवाद 'चतुर्विंशति प्रबन्ध नुं भाषांतर' शीर्षक से प्रकाशित किया। जिनविजय ने सिंघी जैन ग्रन्थ-माला के प्रबन्धकोश (१९३५ ई०) के प्रास्ताविक वक्तव्य में आश्वासन दिया था कि "प्रास्ताविक ग्रन्थ का सम्पूर्ण हिन्दी भाषान्तर, द्वितीय भाग के रूप में प्रकट होगा। ग्रन्थागत ऐतिहासिक बातों का विवेचन और ग्रन्थकर्ता का विशेष परिचय आदि अन्य ज्ञातव्य बातें, उसी में विस्तार के साथ लिखी जाएँगी।"[1] किन्तु ये कार्य आज तक न हो सके।

५. रचना-उद्देश्य

ग्रन्थ-परिचय ग्रन्थ-रचना के उद्देश्यों को स्पष्ट किये बिना नहीं दिया जा सकता है। वर्गचतुष्टय, बुद्धिविकास, नैतिक शिक्षा, हित एवं विनोद, कीर्तिविस्तार, लोकोपदेश व राजकुमारों को शिक्षित

१. प्रको, प्रा० वक्तव्य, पृ० ८।

चाहिए।[१] न हम आपके हैं, न आप हमारे। सांसारिक सम्बन्ध कृत्रिम हैं।" जयताक से राजशेखर कहलवाता है कि भूखा कौन-सा पाप नहीं करता है ?[२] वङ्कचूल ने प्रधान पुरुषों को आमन्त्रित कर अपने उपदेशों से अवगत कराया था कि जीवों का वध तथा पल्ली में मांस-मदिरादि का सेवन तुम लोगों को नहीं करना चाहिए।[३] सूरियों ने वङ्कचूल को चार उपदेश दिये थे।

जैसा कि कहा जा चुका है कि राजशेखर का उद्देश्य अतीत को वर्तमान की आवश्यकतानुसार उपस्थित करना था। चूंकि राजशेखर-कालीन भारतीय समाज में गैर मुसलमानों की स्थिति अत्यन्त निम्न थी, इसलिए तत्कालीन भारत को नीति उपदेशों की आवश्यकता हुई। यही कारण है कि राजशेखर ने समाज की आवश्यकता को देखते हुए २४ में से १० प्रबन्ध ऐसे लिखे हैं जो कि सूरियों से सम्बन्धित हैं। अतः उसका उद्देश्य पाठकों को नैतिक शिक्षाएँ प्रदान करना भी था।

ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखरसूरि अपने ग्रन्थ के माध्यम से लोगों को प्राचीन तथ्यों तथा इतिहास से परिचित कराना चाहता था जिससे कि पुरानी गलतियाँ पुनः न दुहराई जाँय तथा समाज में प्रगतिशील परिवर्तन हो। अतः उसने प्रबन्धकोश की ख्याति का प्रयास किया। स्व ख्याति वह नहीं चाहता था और उसने स्वयं अपने विषय में ग्रन्थकार प्रशस्ति के अतिरिक्त तनिक भी बतलाने का कोई प्रयास नहीं किया क्योंकि अनामता भारतीय कला और संस्कृति की विशेषता है। आश्चर्य तो यह है कि उसके समकालीन भारतीय या मुस्लिम लेखकों ने भी उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा। कुन्दकुन्द की परम्परा में सहस्रकीर्ति का शिष्य श्रीचन्द्र था, जिसने अपने ग्रन्थ

---

१. 'राजभिः पूज्यते यश्च सर्वैरपि स पूज्यते।' प्रको, पृ० ३।
तुलना कीजिए — 'स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।'
'पापं पच्यते हि सद्यः।' वही, पृ० ९८।
'आबालवृद्धान् लालयेत्।' वही, पृ० ४४।

२. 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।' वही, पृ० ९३।

३. 'भवद्भिर्जीववधो मांसमद्यादिरसङ्गश्च पल्ल्या मध्ये न कर्तव्यः।' वही, पृ० ७५।

कथाकोश की रचना सज्जन के पुत्र कृष्ण के परिवार को उपदेश देने के लिए की थी।[१] उसी परम्परा पर राजशेखर ने भी सोद्देश्य प्रबन्धकोश की रचना की थी। उसने महणसिंह की प्रेरणा से इस ग्रन्थ की रचना की थी।

अन्ततः प्रबन्धकोश की रचना का उद्देश्य शास्त्रों को नष्ट होने से बचाना था। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि राजशेखर ने अनेक घटनाओं और व्यक्तियों का इतिहास संग्रह करके हमें उस युग की जानकारी का साधन उपलब्ध करा दिया है। यह उसकी महती देन है।

६. भाषा-शैली

भाषाएँ हमारे विचारों और भावनाओं को प्रकट करने का माध्यम हैं। व्याकरणाचार्यों ने संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश को एक स्वतन्त्र स्थान दिया है। प्रबन्धकोश में प्रथम दो संस्कृत और प्राकृत का प्रभूत प्रयोग किया गया है। मूलतः यह संस्कृत का ग्रन्थ है, जिसमें प्राकृत, अपभ्रंश और यामिनी भाषा के शब्दों के यत्र-तत्र प्रयोग हुए हैं। राजशेखर ने स्पष्ट किया है कि प्राकृत भाषा नारी के समान सुकुमार और संस्कृत पुरुष के समान कठोर है। प्राकृतें सांस्कृतिक कलेवरों में बँध न सकीं, वे जनसाधारण की भाषाएँ थीं और जब-जब उन्हें संस्कृत करने का प्रयास किया गया, तब-तब वे शृंखलायें तोड़कर स्वतन्त्र हो गयीं, फिर जन-कोलाहल की शक्ति बन गयीं। संस्कृत के दार्शनिक धरोहरों के विरोध में जब-जब विद्रोह हुआ, तब-तब भाव का वाहन प्राकृतों को ही बनना पड़ा है। जैन-धर्म की यह प्रधान भाषा थी। विशुद्ध जैन-साहित्य का प्राकृत वाङ्मय में अत्यधिक महत्व है। क्लिष्ट भाषा का यथाशक्य प्रयोग नहीं किया गया है। स्थल-स्थल पर संस्कृत या प्राकृत पद्यों एवं स्थानीय भाषाओं के प्रयोग से प्रबन्धकोश ग्रन्थ सुपाठ्य हो जाता है। ये पद्य पाठकों को सुरुचिपूर्ण विश्राम प्रदान करते है। इन पद्यों में भाषा अवश्य आलंकारिक हो गयी है। चौबीस में से केवल एक प्रबन्ध पूर्णतया संस्कृत पद्य में है,

---

१. सज्जन तो मूलराज का कानूनी सलाहकार और प्राग्वाट् वंश का था। दे० जैन, हीरालाल : द स्ट्रगल फॉर एम्पायर (सम्पा०), मजुमदार, आर० सी० : भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६६, पृ० ४२८।

अन्यथा शेष सभी प्रधानतया गद्य में हैं। "इस समय की जैन संस्कृत में एक मनोहारिता यह है कि जैन-लेखक गुजराती या देशभाषा में सोचते थे और लिखते थे संस्कृत में।"[१]

राजशेखर ने प्रबन्धकोश में यावनी भाषा के शब्दों का भी खुलकर प्रयोग किया है। यावनी भाषा के ये शब्द प्रबन्धकोश ग्रन्थ के प्रायः उत्तरार्द्ध में तथा विषय के अनुसार प्रयुक्त किये गए हैं। इनमें कुछ शब्दों को छोड़कर अधिकांश व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ हैं। अपने वर्णन को कहीं-कहीं अत्यधिक रोचक बनाने के लिए वह काव्यात्मक शैली भी प्रयुक्त करता है। जैसे—"(राजा गोविन्दचन्द्र) ७५० अन्तःपुर-वासियों के यौवन-रस को ग्रहण करने वाला था।"[२] इस तरह ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना न करते हुए प्रबन्धकार हमें सूचित कर देता है कि राजा गोविन्दचन्द्र के ७५० रानियाँ थी। अतः जिन राजनीतिक व साहित्यिक पृष्ठभूमियों में प्रबन्धकोश की रचना हुई वे ग्रन्थ-रचना, उसके उद्देश्यों एवं भाषा-शैली के औचित्य को सिद्ध करते है।

●

१. गुलेरी, चन्द्रधर शर्मा : पुरानी हिन्दी, ना० प्र० सभा, काशी, तृतीय सं०, १९७५, पृ० १९।

२. प्रको, पृ० ५४।

अध्याय – ४

ऐतिहासिक तथ्य और उनका मूल्यांकन

ग्रन्थ-परिचय के वाद ग्रन्थागत ऐतिहासिक तथ्यों का वर्णन एवं उनका मूल्यांकन आवश्यक हो जाता है। ऐतिहासिक तथ्य एक प्रतीक है जो वर्तमान में इतिहासकार के मस्तिष्क में रहता है, परन्तु किसी भी तथ्य को सही रूप में समझने के लिए ऐतिहासिक दृष्टि अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए विकास की प्रक्रिया का अध्ययन तथ्यों को स्पष्ट कर देता है क्योंकि इतिहासकार और तथ्य में उतना ही सम्बन्ध है जितना मनुष्य और वातावरण में।

किन्तु अतीत के सभी तथ्य ऐतिहासिक तथ्य नहीं होते हैं। इतिहासकार जिन तथ्यों को स्वीकारता है उन्हें ही ऐतिहासिक तथ्य माना जाता है।[1] हेरोडोटस (४८५-४२५ ई० पू०), हेमचन्द्र (१०८८-११७३ ई०), प्रभाचन्द्र १२७७ ई०) तथा कार्लाइल (१७९५-१८८१ ई०) महापुरुषों के इतिहास पर वल देते है। ऐसे महापुरुषों के कई वर्ग किये जा सकते हैं, यथा—अवतारी महापुरुष, देवदूत, कवि, धर्मशास्त्री, साहित्यकार, राजा आदि। इसी परम्परा में प्रवन्धकोश में जो ऐतिहासिक तथ्य स्वीकार किये गए हैं वे प्रभावशाली आचार्यों, सुप्रसिद्ध कवियों, राजाओं तथा सामान्य गृहस्थों से सम्बन्धित है। ऐसे तथ्य प्रदान करने में ग्रन्थान्त में दी गयी ग्रन्थकार प्रशस्ति व राजवंशावली भी कम उपयोगी नहीं है। इसलिये ग्रन्थागत सभी प्रवन्धों के सार एवं उनके मूल्यांकन का क्रमानुसार वर्णन किया जायगा।

---

१. कार, ई० एच० : इतिहास क्या है, मैकमिलन, नई दिल्ली, १९७९, पृ० ४, २०। तथ्य तभी बोलते हैं जब इतिहासकार उन्हें बुलवाता है। कार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४।

१. भद्रबाहु-वराह प्रबन्ध[1]

प्रतिष्ठानपुर[2] निवासी भद्रबाहु और वराह नामक दो भाइयों ने यशोभद्र का उपदेश सुना। भद्रबाहु निर्युक्ति सहित दश ग्रन्थों[3] और भाद्रबाहवीं संहिता का रचयिता हुआ। जब वराह भी विद्वान् हुआ तब उसने अपने भाई भद्रबाहु से सूरिपद माँगा। भद्रबाहु ने उसे घमण्डी बताते हुए नहीं दिया। फलतः वराह ने विप्र-वेश धारण किया। उसने वाराह-संहितादि नवीन शास्त्रों की रचना की। वराह बाल्यकाल से ही लग्न (मुहूर्त) का विचार करने, सम्पूर्ण ज्योतिष-चक्र (नक्षत्र-मण्डल) देखने तथा सूर्य से वरदान प्राप्त करने के कारण 'वराहमिहिर' कहलाने लगा।

तदनन्तर प्रतिष्ठानपुर के राजा शत्रुजित ने वराहमिहिर को अपना पुरोहित बना लिया। परन्तु पुत्र-निधन के कारण वराह का ज्योतिष पर से विश्वास उठने लगा और वह जैनधर्मद्वेषी दुष्ट व्यन्तर हो गया।

ओझा और याकोबी का कथन है कि भद्रबाहु और वराह न तो दोनों भाई थे और न समकालीन। सारा 'भद्रबाहु-वराह प्रबन्ध' कपोल-कल्पित प्रतीत होता है। इस प्रकार की कथाओं का आविष्कार इसलिये किया गया है कि सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणवादी वराहमिहिर पर

१. प्रको, पृ० २-४। प्रबन्ध के संक्षिप्त सार के लिए दे० शर्मा, शिवदत्त : चतुर्विंशतिप्रबन्ध, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ५, १९८१, पृ० ३७०-३७२; भद्रबाहु के लिए दे० मुनि चतुरविजय का लेख आत्मानन्द जन्म शताब्दी स्मारक ग्रन्थ में।

२. हैदराबाद के औरंगाबाद जिले में गोदावरी तट पर अवस्थित आधुनिक पैठन। सरकार, डी० सी० : स्टडीज इन द ज्योग्रफी ऑफ एन्शियेण्ट ऐण्ड मिडिवल इण्डिया, दिल्ली, १९६०, पृ० १५४।

३. दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्पव्यवहार, आवश्यक, सूर्यप्रज्ञाति, सूत्रकृत, आचाराङ्ग तथा ऋषि भाषिताख्य। प्रको, पृ० २; दे० खरतरपट्ट, पृ० १७; जैपइ, पृ० ४३६; जैपइ (पृ० १२२-१२३) के अनुसार भद्रबाहु ने २१ ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से 'व्यवहारसूत्र' तथा 'संसक्त निर्युक्ति' अप्राप्य हैं। दे० शर्मा, शिवदत्त : चतुर्विंशति-प्रबन्ध, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३७०।

भद्रवाहु का और ब्राह्मणवादी ज्योतिप पर जैन ज्योतिप का वर्चस्व स्थापित हो।[1] निश्चय ही सिंह लग्न की कुण्डली वनाना, उस पर सिंह का वैठना, सूर्य प्रत्यक्ष होना आदि एक सुन्दर गप्प है।

किन्तु प्रवन्ध का सूक्ष्म अध्ययन करने से विदित होता है कि भद्रवाहु नाम के तीन विद्वान् हुए हैं—एक श्रुतकेवली भद्रबाहु (३५७-३१७ ई० पू०); दूसरे निमित्तवेत्ता भद्रवाहु (१४०-१०० ई० पू०)[2], और तीसरे निर्युक्तियों (५२५-५५० ई०) के रचयिता भद्रवाहु। तीसरा भद्रवाहु ही ज्योतिपी वराहमिहिर का भाई था जिसकी 'पञ्चसिद्धान्तिका' की तिथि ५५० ई० है। चूंकि निर्युक्तियों में प्रथम, द्वितीय और तृतीय शताब्दियों तक के व्यक्तियों और घटनाओं के उल्लेख आते हैं और चूंकि सूत्रों का सम्यक् संस्करण पाँचवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पूर्ण हुआ था इसलिए इस भद्रवाहु तृतीय को तथा उसकी निर्युक्तियों को ५२५-५५० ई० का समय प्रदान किया जा सकता है।[3] अतः प्रवन्धकोश में वर्णित भद्रवाहु का समीकरण इसी भद्रबाहु तृतीय से किया जाना चाहिये जो विक्रम संवत् की पाँचवीं-छठीं शताब्दियों में था और वराहमिहिर पाँचवीं शताब्दी ई० के अन्त में।

प्रवन्धचिन्तामणि सरीखे कुछ जैन-ग्रन्थ भद्रवाहु को छोटा भाई मानते हैं। किन्तु प्रवन्धकोश में भद्रवाहु ने वराहमिहिर के लिए 'वत्स' सम्बोधन का प्रयोग किया है[4], जिससे प्रतीत है कि भद्रवाहु वराह से

१. ओझा, गौरीशकर हीराचन्द (सम्पा०) : ना० प्र० पत्रिका, भाग ५ सं० १९८१, पृ० ३७१ टि०।
याकोवी, एच० : द कल्पसूत्राज ऑफ भद्रवाहु, भूमिका, पृ० १३-१४।

२. जैन स्थविरावली। दे० वाली, चन्द्रकान्त : नए चन्द्रगुप्त की खोज, ना० प्र० पत्रिका, सं० २०३९, पृ० ९६; श्रवणवेलगोल में पाये गये अनेक अभिलेख श्रुतकेवली भद्रवाहु के दक्षिण गमन की पुष्टि करते हैं। दे० नरसिंहाचार, आर० : इन्स्क्रिप्शंस ऑफ श्रवणवेलगोल, इपि० कर्नाटक, जिल्द दूसरी, वंगलोर, १९२३; अनेकान्त, नवाँ, ग्यारह, पृ० ४४३-४४४; पुरातन जैन वाक्य सूची, पृ० १४६।

३. जैनसो, पृ० १६४ तथा पृ० १६५।

४. दे० प्रचि, पृ० ११८; प्रचिढि, पृ० १४६; खरतरपट्ट, पृ० १६; जैपद, पृ० १२१; वाली, चन्द्रकान्त : पूर्वनिदिष्ट, पृ० ९७; दे० प्रको, पृ० २ भी।

बड़ी आयु का था। प्रबन्ध का शीर्षक 'भद्रबाहु-वराह प्रबन्ध' है जिसमें पहला नाम ज्येष्ठ भ्राता का ही होना चाहिये, जैसे राजशेखर ने वस्तुपाल-तेजपाल भाइयों का नाम प्रयुक्त किया है। इस प्रकार राजशेखर ने प्रबन्धचिन्तामणि की गलती में सुधार किया है।

अन्त में दो प्रश्न रह जाते हैं—पहला, राजा शत्रुजित का समीकरण और दूसरा, राजशेखर ने छठीं शताब्दी के भद्रबाहु का वर्णन पहले क्यों किया ? शत्रुजित प्रतिष्ठानपुर का कदाचित् कोई अधिकारी था जो जैन-धर्म से प्रभावित था, जिसे जैन-धर्म की महत्ता बढ़ाने के लिए राजशेखर ने राजा कहा। दूसरे प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि चूँकि भद्रबाहु नाम के दो आदरणीय आचार्य ई० पू० में ही हो चुके थे इसलिए राजशेखर ने उनके प्रबन्ध को प्रथम स्थान दिया।

२. आर्यनन्दिल प्रबन्ध

पद्मनीखण्ड नगर में राजा पद्मप्रभ और रानी पद्मावती थे। वहाँ के श्रेष्ठी पद्मदत्त और श्रेष्ठिनी पद्मयशा के पुत्र का नाम पद्मनाभ था जिसका विवाह सार्थवाह वरदत्त की पुत्री वैरोट्या से हुआ था। वैरोट्या को उसका श्वशुर कर्णकटु व कर्कश वचन द्वारा बहुत दुःख देता था किन्तु आर्यनन्दिल वैरोट्या को सान्त्वना दिया करते थे।

एक बार वैरोट्या ने अपनी गर्भावस्था में नागपत्नी को अवशिष्ट पायस खिला दिया जिससे वैरोट्या के पुत्र उत्पन्न हुआ। पितृ-गृह लक्ष्मी से सम्पन्न हो गया और श्वशुर पद्मदत्त द्वारा वैरोट्या का सत्कार होने लगा।

एक अन्य अवसर पर वैरोट्या ने नागपत्नी के पुत्रों को बचाया था। नागराज ने वैरोट्या को अभयदान और उसके पुत्र को 'नागदत्त' नाम दिया। आर्यनन्दिल ने वैरोट्या को उपदेश दिया और 'वैरोट्या-स्तव' की रचना की, जिसे पढ़ने वाले को सर्प-भय नहीं रहता।

प्रभावकचरित में आर्यनन्दिल को आर्यरक्षित वंश का और भविष्यज्ञाता बतलाया गया है किन्तु नन्दीसूत्र की टीका में मलयगिरि

ने उसे आर्य मंगु का शिष्य।[1] आर्यनन्दिल वाचक वंश के समर्थ वाचनाचार्य, दर्शन, ज्ञान, व्याकरण, गणित और कर्मप्रकृति के प्रकाण्ड विद्वान् थे।

आर्यनन्दिल सरीखे जैन आचार्यो ने ८ नागकुलों को जैन बनाया था। पुराणों के अनुसार नागवंश ने विदिशा, कान्तिपुरी, मथुरा और पद्मावती में राज्य किया। विदिशा के नागवंशी तेरह राजाओं ने लगभग २०० वर्षो (ई० पू० १००-७८ ई०) तक राज्य किया। इस दृष्टि से भी आर्यनन्दिल का समय प्रथम शताब्दी ई० पू० से प्रथम शताब्दी ई० के तृतीयांश के बीच ही समीचीन ठहरता है।

आर्यनन्दिल प्रबन्ध में वर्णित अधिकांश तथ्य प्रभावकचरित से ग्रहण किये गये हैं और इसमें ऐतिहासिक तथ्य कम हैं। प्रत्यक्ष रूप से आर्यनन्दिल की गुरु-शिष्य परम्परा तथा उनके द्वारा जैनधर्म के प्रसार के अतिरिक्त अन्य कोई महत्व की बात प्रत्यक्ष रूप से नहीं प्राप्त होती। परोक्ष रूप से यह प्रबन्ध तीन मुख्य बातों पर प्रकाश डालता है—

१. नागवंश की उत्पत्ति,
२. सामाजिक विघटन – श्वशुर बनाम बधू (बधू का वैर-भाव)
३. पुत्रोत्पत्ति के उपाय – क्षीर (पायस)।

३. जीवदेवसूरि प्रबन्ध

गुर्जरभूमि के वायट नगर में जीवदेव का जन्म हुआ था। वहाँ श्रेष्ठी धर्मदेव व श्रेष्ठिनी शीलवती के महीधर और महीपाल दो पुत्र थे। महीधर राशिल्य नामक श्वेताम्बर सूरि और महीपाल सुवर्णकीर्ति नामक दिगम्बर आचार्य हो गये। गुरु श्रुतकीर्ति ने सुवर्णकीर्ति को चक्रेश्वरी[2] और परकाया नामक दो विद्याएँ व आचार्य पद दिया।

---

१. प्रको, पृ० १,५; प्रभाच, पृ० २, ९-१४, १७-१९, २७; धितीक पृ० ७०; खरतर, पृ० ५६; खरतरपट्ट २,१९; जैपइ, पृ० १८३-१८५; जैसाद, पृ० १२।

२. रहस्यमत गीत का नाम। ऋषभदेव की शासन देवी का नाम। यह चक्रेश्वरी-गीत जैन-तन्त्र की सोलह विद्याओं में से एक है। दे० शाह, यू० पी० : आइकोनोग्राफी ऑफ सिक्सटीन जैन महाविद्याज, जइसो ओ ए, पन्द्रहवाँ गं०, पृ० ११४ व आगे।

पति के दिवंगत हो जाने पर शीलवती दुःखी थी। उसने दोनों भाइयों को एकमत हो जाने का परामर्श दिया। सुवर्णकीर्ति ने माता के वचन से प्रबुद्ध होकर दीक्षा ग्रहण की और अब उसका नाम जीवदेवसूरि हो गया।

एक बार जीवदेवसूरि ने एक योगी को सूरिमन्त्र शक्ति से कीलित कर दिया परन्तु बाद में उसे मुक्त कर दिया। उन्होंने श्रेष्ठी लल्ल और ब्राह्मणों को भी प्रभावित किया था। जीवदेव सामुद्रिकशास्त्र में वर्णित महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों से युक्त थे। वे 'भक्तामरस्तोत्र' का पाठ करते थे।

जीवदेवसूरि प्रबन्ध भी प्रभावकचरित में वर्णित प्रबन्ध का गद्यीकरण है। इसमें प्रभावकचरित द्वारा प्रदत्त सूचनाओं से कुछ भी अधिक नहीं है। जीवदेवसूरि प्रबन्ध में चमत्कारिक वर्णन कई हैं, जिनमें ऐतिहासिकता ढूँढ़ना व्यर्थ है। फिर भी इस प्रबन्ध का तीन दृष्टियों से ऐतिहासिक महत्व है—

१. जैनों के 'सूरि' और 'आचार्य' पदों के वर्णन हैं।
२. श्वेताम्बर बनाम दिगम्बर – एक भाई श्वेताम्बर और दूसरा भाई दिगम्बर था।
३. श्वेताम्बर की प्रधानता और प्रभावना हुई।

४. आर्यखपटाचार्य प्रबन्ध

भृगुकच्छ में राजा बलमित्र के राज्य में बौद्ध तर्कज्ञों का बड़ा प्रभाव था। उनको खपुट के शिष्य भुवन ने पराजित किया। बौद्धों की मदद के लिए गुडशस्त्रपुर से आये हुए वृद्धकर नामक वादी की भी पराजय हुई। अपमान से क्षुब्ध होकर उसने अनशन से देह-त्याग किया। वह यक्ष होकर पूर्वजन्म के वैर से गुडशस्त्रपुर में जैनों को कष्ट देने लगा। संघ की प्रार्थना पर खपुट वहाँ गये और शान्ति स्थापित की। वहाँ के राजा ने खपुट को महान सिद्ध समझकर क्षमा माँगी और उनका सम्मान किया।

उस समय पाटलिपुत्र में दाहड़[1] नामक राजा ने जैन मुनियों को

१. दाहड़ राजा ब्राह्मण भक्त था (प्रको, पृ० ११)। वह निकृष्ट राजा था (प्रभाच, पृ० ३४)।

आदेश दिया कि वे ब्राह्मणों को प्रणाम करें। अतः खपुट ने जैन-प्रभावना के लिये अपने शिष्य महेन्द्र को वहाँ भेजा था। अन्त में आर्यखपट अपने भाञ्जे भुवन को सूरिपद देकर, अनशन कर आकाशगामी हो गये।

विद्यासिद्ध आर्य खपुट का उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति और प्रभावकचरित में भी हुआ है। आर्य खपुट का समय प्रथम शताब्दी ई० पू० से प्रथम शताब्दी ई० के बीच में है क्योंकि प्रभावकचरित में कहा गया है कि वीर निर्वाण के ४८४ वर्ष बाद आर्य खपुट हुए।[१] चूंकि वीर निर्वाण की तिथि ५२७ ई० पू० है अतः उसमें से ४८४ घटाने पर ४३ ई० पू० आता है जो खपुट की तिथि है। उसी ग्रन्थ में वर्णन है कि वि० सं० १३५ (तदनुसार ७८ ई०) में भृगुकच्छ में बलमित्र नामक राजा था, जो आर्यखपुट व पादलिप्त का समकालीन था। तपगच्छ-पट्टावलि[२] द्वारा भी इसकी पुष्टि हो जाती है जिसमें कहा गया है कि आर्य खपुट वीर सं० ४५३ में हुए थे।

इस प्रबन्ध में आये गुडशस्त्रपुर का समीकरण आधुनिक गोडूरपुर (खरगाँव, जि० निमाड़, म० प्र०) से किया जा सकता है जो नर्मदा के दक्षिणी तट पर स्थित है।[३] इस प्रकार भृगुकच्छ और गुडशस्त्रपुर के बीच करीब २५० कि० मी० की दूरी हुई जिसे पार कर वृद्धकर वादी बौद्धों की सहायता के लिए आये होंगे।

आर्य खपुट सूरिपुंगव महाविद्या के भण्डार, महान् मन्त्रवादी और प्रभावक आचार्य हुए हैं। इन्होंने भड़ौच, गुडशस्त्रपुर और पाटलिपुत्र में बौद्धों और ब्राह्मणों को पराजितकर जैन-शासन की प्रसिद्धि की। पाटलिपुत्र में जो दाहड़ नामक राजा था उसका समीकरण अन्तिम शुङ्ग राजा देवभूति (८२-७३ ई० पू०) से किया जा सकता है।[४]

---

१. श्रीवीरमुक्तितः शतचतुष्टये चतुरशीति संयुक्ते।
वर्षाणा समजायत श्रीमानाचार्यखपुटगुरुः ॥ ७९ ॥ प्रभाच, पृ० ४३।

२. दे० जैंपइ, पृ० २३५।

३. दे० लॉ : हि० ज्यो०, पृ० २७१; दे० पूर्ववर्णित, टि० ७८ भी।

४. दे० त्रिपाठी, सच्चिदानन्द : शुंगकालीन भारत, वि० वि० प्रकाशन, वाराणसी, १९७७, पृ० ७१; दे० जैंपइ, पृ० २३३ भी; पार्जिटर;

वह ब्राह्मण-भक्त और विलासी था। पुराणों के अनुसार उसके अमात्य वसुदेव कण्व ने उसका वध कर दिया और स्वयं राजा बन बैठा। इस तथ्य की पुष्टि 'हर्षचरित' ने भी की है।[1] इसके अलावा अन्य कोई ऐतिहासिक तथ्य इस प्रबन्ध में नहीं है।

५. पादलिप्ताचार्य प्रबन्ध

कोशल में विजय वर्मा राजा थे। वहाँ के एक श्रेष्ठि-कुल में, वैरोटी देवी की आराधना और आचार्य नागहस्ति के आशीर्वाद से एक पुत्र (पादलिप्त) का जन्म हुआ। इसलिए इनके पिता फुल्ल और माता प्रतिमा ने इनका नाम नागेन्द्र रखा। नागेन्द्र की शिक्षा-दीक्षा आचार्य नागहस्ति के संघ में हुई। मण्डनमुनि ने इन्हें पढ़ाया। कालान्तर में गुरु-कृपा से इन्हें लेप का ज्ञान मिला जिसे पैरों में लगाने से आकाशमार्ग से चलने की शक्ति प्राप्त होती थी। यही पादलिप्त के नाम का स्पष्टीकरण दिया गया है।

पादलिप्त ने पाटलिपुत्र के राजा मुरुण्ड की दीर्घकालीन शिरोवेदना शान्त कर दी थी और वहाँ के जैन यतियों के कष्ट का भी निवारण किया था। ढंक पर्वत पर नागार्जुन ने पादलिप्त से गगनगामिनी-विद्या ग्रहण की और हेमसिद्धि-विद्या प्राप्त करने के लिये रस-दोहन के निमित्त वासुकि नाग की आराधना की थी। पादलिप्त का प्रतिष्ठानपुर (पैठन) के राजा सातवाहन ने भी स्वागत किया। पादलिप्त ने

एफ० ई० : द डाइनेस्टीज ऑफ द कलि एज (पृ० ७०) देवभूति को ७४-६४ ई० पू० तक १० वर्षों का शासन-काल प्रदान करता है। देवभूति को देवभूमि और क्षेमभूमि भी कहा गया है।

१. देवभूति तु शुंगराजानं व्यसनिनं तस्यवामात्यः कण्वो वासुदेवनामा तं निहत्य स्वयमवनी भोक्ष्यति। विष्णु० ४ अ० २४, ३९, पृ० ३५२ (गीता प्रेस संस्करण); ब्रह्म० ३. ७४. १५५; वायु० ९९. ३४८; मत्स्य० २७२. ३१।

अतिस्त्रीसङ्गरतमनङ्गपरवशं शुंगममात्यो वसुदेवोदेवभूतिदासीदुहित्रा देवीव्यञ्जनया वीतजीवितमकारयत्। बाण : हर्षचरितम्, षष्ठ उच्छ्वास, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६४, पृ० ३५२ (बम्बई संस्करण, १९२५); षष्ठ उच्छ्वास, पृ० १९९।

निर्वाणकलिका, प्रश्नप्रकाश आदि शास्त्रों का सन्दर्भ दिया और 'तरंगलोला' नामक एक चम्पूकाव्य की रचना की। अन्त में उन्होंने एक गणिका को प्रभावित किया। तदनन्तर वे ३२ दिनों तक अनशन करते हुए देवलोकगामी हुए।[1]

विद्याधर गच्छ में 'श्रुतसागर के पारगामी' पादलिप्त की जीवन-कथा प्रभावकचरित, पुरातन प्रबन्ध संग्रह और प्रबन्धकोश में सविस्तर वर्णित है।[2] प्रबन्धकोश का पादलिप्ताचार्यप्रबन्ध प्रभावकचरित के पादलिप्तसूरिचरितम् का प्रायः पदान्वय है और पुरातनप्रबन्धसंग्रह के अनुरूप है। पादलिप्त द्वितीय शताब्दी ई० के हैं जिन्होंने तरंगवती (प्राकृत), निर्वाणकलिका और ज्योतिषकरण्ड टीका रची है। इनका एक गृहस्थ शिष्य नागार्जुन था जो रसायनवेत्ता और मन्त्र-साधक था।

पादलिप्त के समकालीन सूरियों में रुद्रदेव, समरसिंह, खपुटाचार्य (प्रथम ई०), महेन्द्र, नागहस्ति (४६-१६२ ई०) और समकालीन नृपतियों में कोशल के विजय वर्मा (ब्रह्म), भड़ौच के बलमित्र (७८ ई०), ओमकारपुर के भीमराज, मानखेट के कृष्णराज, पाटलिपुत्र के मुरुण्ड और प्रतिष्ठान के सातवाहन (पुलुमावि द्वितीय ८६-११४ ई०) वगैरह थे। यदि इन समकालिकों पर विचार किया जाय तो पादलिप्त विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी के आचार्य हैं, ऐसा मानना होगा। अतः पादलिप्त को द्वितीय शताब्दी ई० में मानना ही समीचीन है।

ब्यूलर के अनुसार लाट मध्य गुजरात है। परन्तु अधिकांश इतिहासकारों के अनुसार लाट दक्षिणी गुजरात है जिसमें सूरत, भड़ौच, खेड़ा और बड़ौदा के हिस्से सम्मिलित थे।[3] महत्व की बात यह है कि पाटलिपुत्र से लाट प्रदेश जाना और वापस आना पादलिप्त के लिए कठिन नहीं था क्योंकि वे गगनगामिनी विद्या में निष्णात थे।

---

१. "द्वात्रिंशच्छिनान्यनशनं कृत्वा देहं मुक्त्वा।" पुप्रस, पृ० ९४।

२. प्रभाच, पृ० २८-४०, ६१; पुप्रस, पृ० ९२-९५; प्रको, पृ० ११-१४; दे० जैसाबृइ, पृ० ३३५।

३. डे, एन० एल० : ज्योग्रैफिकल डिक्शनरी, पृ० ११४; लॉ, हि० ज्यो०, पृ० ३३८; चागु, पृ० २०९।

लाट देश के ओमकारपुर के भीमराज और भड़ौच के राजा मूरिजी के भक्त थे जिन्हें ज्ञान देकर जैन धर्मावलम्बी बनाया। 'मुरुण्ड' का तात्पर्य राजा या स्वामी होता है जिसके लिए चीनी शब्द 'वाङ्ग' प्रयुक्त होता है। भारतीय ग्रन्थों और प्रशस्तियों में शक-मुरुण्ड एक साथ आते हैं। मथुरा के क्षत्रपों का समय दूसरी शताब्दी के मध्य में है जो सम्भवतः पाटलिपुत्र तक बढ़ गये होंगे। शोडास (सुदास-प्रथम शताब्दी ई०) के बाद इन शकों की शक्ति क्षीण होने लगी। उनमें से कुछ ने जैन धर्म और बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।

ढङ्क पर्वत गुजरात में आधुनिक ढाङ्क है। गोंडल (२२° ७०.५°) के पास ढंकगिरि नामक खडकवाली पहाड़ी है। इसी के पास ढांक ग्राम है जिसका प्राचीन नाम तिलतिलपट्टण था। यहीं आदिनाथ, शान्ति, पार्श्व, महावीर और अम्बिकादेवी आदि की कुषाणकालीन खण्डित मूर्तियाँ हैं। इसी ढंक पर्वत पर नागार्जुन ने पार्श्व-प्रतिमा-हरण के पश्चात् रस-स्तम्भन किया था। ढांक से ४० मील पश्चिम धूमली नगर है।[१]

इस प्रबन्ध में वर्णित सातवाहन राजा वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि द्वितीय (८६-११४ ई०) हो सकता है।[२] कुछ विद्वानों ने पुलुमावि द्वितीय के राज्यारोहण की तिथि १३०-५८ ई० मानी है।[३] दोनों दशाओं में पुलुमावि द्वितीय ही वह सातवाहन राजा रहा होगा जिसने प्रतिष्ठान पर अधिकार रखा था और जैन पादलिप्त का स्वागत किया

---

१. जैपई, पृ० ३५८; किन्तु इपि० इण्डि०, छब्बीसवाँ, भाग पाँचवाँ, जनवरी, १९४२; लॉ : हि० ज्यो०, पृ० ३७० में २५ मील का अन्तर बताया गया है।

२. वेंकटराव द्वारा प्रदत्त सातवाहन राजाओं की तिथियों के लिए दे० वेंकटराव का लेख 'द प्री-सातवाहन ऐण्ड सातवाहन पीरियड्स', याजदानी (सम्पा०), द अर्ली हिस्टरी ऑफ द डेकन, नई दिल्ली, १९८२, पृ० ११२।

३. मजुमदार, आर० सी० : द एज ऑफ इम्पीरियल युनिटी, बम्बई, १९५१, पृ० २०४; रायचौधरी : प्रा० भा० का राज० इति०, पृ० ३६७; पाण्डेय, राजबली : प्रा० भा०, पृ० २१३ व टि० ४।

था। पुलुमावि ब्राह्मण होते हुए भी बौद्धों को दान देता था। अतः इस धर्म-सहिष्णु ने पादलिप्त का भी स्वागत-सत्कार किया होगा।

६. वृद्धवादि-सिद्धसेन प्रबन्ध

वृद्धवादि और सिद्धसेन गुरु-शिष्य थे। वृद्धवादि का जन्म गौड़देश के कोशला ग्राम में हुआ था। इनका बचपन का नाम मुकुन्द ब्राह्मण था। वे गुरु स्कन्दिलाचार्य के साथ भृगुपुर गये और उन्होंने उस बेजोड़ मल्लवादि मुकुन्द का नाम वृद्धवादि रख दिया।

इधर सिद्धसेन का जन्म अवन्ति में हुआ था। इनके पिता देवर्षि और माता देवसिका (देवश्री) कात्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। सिद्धसेन भी वाद-विवाद में निष्णात हो गये किन्तु कालज्ञ वृद्धवादि से वाद में पराजित होकर उनके शिष्य हो गये। दीक्षा काल में सिद्धसेन का नाम 'कुमुदचन्द्र' था। इसके बाद सिद्धसेन को अवन्ति में 'सर्वज्ञ-पुत्रक' विरुद मिला। विक्रमादित्य ने उसकी वन्दना की और मुद्राएँ अर्पित कीं जो जीर्णोद्धार में प्रयुक्त हुई। विचरण करते हुए सिद्धसेन चित्रकूट पहुँचे जहाँ उन्होंने सर्षपविद्या और हेमविद्या ग्रहण की। सिद्धसेन चित्रकूट से कुर्मारपुर चले गये। वहाँ देवपाल राजा को प्रतिबोधित किया और राजा ने कहा कि पड़ोस के राजागण एक साथ इकट्ठा होकर मेरे राज्य पर आक्रमण करने आ रहे हैं। सूरि ने राजा के आसन्न संकट का निवारण किया।

वृद्धवादि की मृत्यु के बाद सिद्धसेन उज्जयिनी के महाकाल-प्रासाद पहुँचे। सिद्धसेन ने द्वात्रिंशदद्वात्रिंशिका देव की स्तुति करना प्रारम्भ किया और कल्याण-मन्दिर स्तोत्र की रचना की। सिद्धसेन विहार करते हुए मालवा के ओङ्कार नगर पहुँचे। राजा ने सिद्धसेन को ऐश्वर्य प्रदान करना चाहा जिसके बदले में वादि ने राजा द्वारा ओङ्कार नगर में जैन मन्दिर को शिव मन्दिर से ऊँचा करवा दिया।

अन्त में सिद्धसेन दक्षिण में विहार करने गये और वहीं वे स्वर्ग सिधारे।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के तिथि-काल के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं। हरमन याकोबी सिद्धसेन के 'न्यायावतार' में आये 'भ्रान्त, अभ्रान्त, स्वार्थ और परार्थ' शब्दों के भ्रम में पड़कर आचार्य को

सातवीं शताब्दी ई० में मानने के इच्छुक हैं।[1] कुछ भारतीय इतिहासकार भी इन्हें समन्तभद्र के बाद का या ५५० से ६०० ई० के बीच का मानते हैं।[2] उन्होंने जिनसेन के हरिवंश (७८३ ई०), पट्टावलि समुच्चय तथा पद्मचरित के आधार पर सिद्धसेन को छठी-सातवीं शताब्दी ई० का सिद्ध करने का प्रयास किया है, जो त्रुटिपूर्ण है।

सिद्धसेन का सत्ता-समय चतुर्थ शताब्दी ई० के अन्त और पाँचवीं के प्रारम्भ में होने का एक प्रमाण यह भी है कि वह द्वितीय स्कन्दिल सूरि (निधन ३७३ ई०) के प्रशिष्य थे। इस मत के समीप फतेहचन्द बेलानी का एक विचार और है कि सिद्धसेन विक्रम संवत् की चौथी-पाँचवी शताब्दी में हुए।[3] अतः सिद्धसेन का चतुर्थ शताब्दी ई० के अन्त और पाँचवीं के प्रारम्भ में होना निश्चित है क्योंकि सिद्धसेन और चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (३८०-४१२ ई०) की समकालिता भी इस मत की पुष्टि करती है।

प्रबन्धकोश में वर्णित उज्जयिनी का यह विक्रमादित्य न तो प्रथम शताब्दी ई० पू० वाला विक्रमादित्य है और न मालवा का यशोधर्मदेव। प्रथम शती ई० पू० में सिद्धसेन दिवाकर और उनके ग्रन्थों की रचना-काल का मेल नहीं बैठता। यशोधर्मदेव का काल ५वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और छठीं का पूर्वार्द्ध होने से वृद्धवादि की सामयिकता नहीं बैठती। अतः यह गुप्तकाल का द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३८०-४१२ ई०) ही है जो वृद्धवादि-सिद्धसेन का समसामयिक रहा होगा।

ओङ्कार नगर पूर्वी मालवा का आकर हो सकता है, जबकि अन्य

---

१. जैपइ, पृ० २५८-२६२ में इसका विस्तृत विवेचन मिलता है।

२. जैनसो, पृ० १६५-१६६; मुख्तार, जुगुल किशोर (कट्टर दिगम्बर) के विचारों के लिए दे० जैपइ, पृ० २५८; इन विद्वानों ने पट्टावलि समुच्चय (पृ० १५०) तथा पद्मचरित (पर्व १२३, पद १६७) को आधार माना है।

३. स्कन्दिल दो हुए हैं जिनमें प्रथम का स्वर्गवास ५३ ई० पू० में तथा द्वितीय का ३७३ ई० में हुआ था। दे० जैपइ, पृ० २६१; बेलानी : पूर्वनिदिष्ट, पृ० ३।

प्रबन्ध-ग्रन्थ इसे लाट देश के अन्तर्गत बतलाते हैं।[1] प्रबन्धकोश में यह मालवा में स्थित बतलाया गया है। आकर पूर्वी मालवा (राजधानी विदिशा) और अवन्ति पश्चिमी मालवा (राजधानी उज्जयिनी) के लिए प्रयुक्त होता था।

प्रबन्धकोश में वर्णित कुमारपुर और उसके राजा देवपाल का समीकरण एक समस्या है। कुमारपालचरित में इसे कुमारग्राम कहा गया है।[2] आधुनिक गंजाम जिले के बेरहमपुर (तालुके) में कुमार-पुर नामक एक गाँव है। राजशेखर के अनुसार कुमारपुर चित्रकूट से पूर्व देश में स्थित था, जहाँ देवपाल राजा था।[3] पूर्वी प्रान्त में चन्द्र-गुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने युवराज कुमारगुप्त (कुमारदेव) को प्रान्तीय शासक नियुक्त किया होगा। कालान्तर में उसके नाम से वह स्थान कुमारपुर प्रसिद्ध हो गया होगा।

मेहरौली लौह-स्तम्भ-अभिलेख से विदित होता है कि बंगाल में कई राजा गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण करने के लिये इकट्ठे हो गए थे जिनको राजा चन्द्र (चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य) ने पराजित किया। विक्रमादित्य के पड़ोसी राजागणों द्वारा एक साथ इकट्ठे होकर आक्रमण करने की योजना का वर्णन राजशेखर ने भी किया है।[4] अन्तर इतना है कि आक्रमण की योजना राजशेखर के अनुसार सूरि-प्रभाव से टली जबकि अभिलेख प्रमाणित करता है कि राजा

१. ओंकार नगर अंकित सिक्कों के लिये दे० गोपाल, लल्लनजी : अर्ली मेडिवल क्वायन-टाइप्स ऑफ नार्दर्न इण्डिया, द न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, वाराणसी, १९६६, पृ० १३; प्रभाच, पृ० ३१; पुप्रस, पृ० ९३।

२. कुपाच, पृ० ८८।

३. प्रको, पृ० १७; यह गौड़देश का पालवंशीय राजा देवपाल (लगभग ८१०-८५० ई०) नहीं है जिसका उल्लेख बादाल स्तम्भ-लेख (इपि० इण्डि०) द्वितीय, पृ० १६०-१६५ में है।

४. फ्लीट : गुप्त-अभिलेख, उद्धृत पाण्डेय, राजबली : प्राचीन भारत, पृ० २६४, टि० ३; "सीमालभूपालाः सम्भूय: मद्राज्यं जिघृक्षय", प्रको, पृ० १७।

चन्द्र ने उनको बलपूर्वक पराजित कर अपनी भुजाओं पर खड्ग से कीर्ति अंकित की। अतः यही विक्रमादित्य ही प्रबन्धकोश का देवपाल राजा है, क्योंकि उसकी अनेक उपाधियों के अलावा देवराज, देवगुप्त आदि अनेक नाम भी पाये जाते हैं।[1]

सिद्धसेन को ऐसा गौरव प्राप्त था कि श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दोनों ही इन्हें अपने-अपने सम्प्रदाय का मानते हैं। इनके रचे ३२ ग्रन्थ कहे जाते हैं, जिनमें से २१ ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं।[2]

इन ग्रन्थों में पहली बार ब्राह्मण और बौद्ध दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन व जैन दृष्टिकोण से उनकी आलोचना प्राप्त होती है।

७. मल्लवादिसूरि प्रबन्ध

शीलादित्य का जन्म वलभी में हुआ था। इनकी माता सुभगा और नाना देवादित्य ब्राह्मण थे, जो खेटा महास्थान (गुर्जर-मण्डल) के निवासी थे। उस बालक ने असाधारण शक्ति अर्जित कर वलभी के राजा को मार डाला और शीलादित्य के नाम से वलभी-नरेश बन बैठा। उसने भृगुक्षेत्र के राजा के साथ अपनी बहन का विवाह किया। इस बहन का पुत्र मल्लवादि कहलाया।

एक बार शीलादित्य की सभा में जैनों और बौद्धों के बीच शास्त्रार्थ हुआ। उसमें पराजित जैनों को राजा ने अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। जब शीलादित्य के भांजे को अपनी माँ से श्वेताम्बर जैनों की हीन दशा का पता चला, खिन्न बालक ने बौद्धों के उन्मूलन की प्रतिज्ञा की और मल्लपर्वत पर तपस्या शुरू कर दी। वह शासन-देवी से 'नयचक्र' की तर्क-पुस्तक प्राप्तकर वलभी आया और बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया। अब वह मल्लवादि कहलाने लगा।

---

१. पाण्डेय, राजबली : प्रा० भा०, पृ० २६२-२६३।

२. विशद विवेचना के लिए दे० जैनसो, पृ० १६४-१६५; जैपइ, पृ० २५४-२५६; जोहरापुरकर व कासलीवाल : पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३४; उपाध्ये, ए० एन० : सिद्धसेन्स 'न्यायावतार' ऐण्ड अदर वर्क्स; उपाध्याय, वासुदेव : गु० सा० का इति०, द्वितीय खण्ड, पृ० १४७-१४८; जैसावृइ, भागछ, ५६४; ५६५, ५६९-५७१।

कालान्तर में रङ्क वणिक ने ईर्ष्या के वशीभूत हो म्लेच्छ सेना को वलभी बुलाया। प्रबन्धकोश के अनुसार ३७५ वि० सं० में वलभी भङ्ग हुआ जो त्रुटिपूर्ण है। वस्तुतः वलभी भङ्ग ७८८ ई० में हुआ था।

मल्लवादि के वर्णन प्रभावकचरित, प्रबन्धचिन्तामणि और प्रबन्धकोश में आते हैं। प्रबन्धकोश में प्रबन्धचिन्तामणि के कथन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। प्रबन्ध-ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट है कि मल्लवादि नाम के तीन आचार्य हुए। पञ्चासर, पाटण और थामणा में मल्लवादि गच्छ की गद्दियाँ थीं। एक जैन-परम्परा के अनुसार प्रथम मल्लवादि विक्रम की चौथी-पाँचवी शताब्दी, द्वितीय मल्लवादि आठवीं और तृतीय मल्लवादि तेरहवीं शताब्दी के आचार्य हैं।[1] प्रबन्धकोश के मल्लवादि विक्रम की चौथी-पाँचवीं शताब्दी के मल्लवादि नहीं थे, क्योंकि इन्होंने सिद्धसेन (पाँचवी शताब्दी ई०) की 'सम्मति-तर्क' पर टीका रची है। ये विक्रम की तेरहवी शताब्दी के मल्लवादि नहीं थे, क्योंकि 'अनेकान्तजयपताका' (विक्रम की आठवीं शताब्दी) में उनके ग्रन्थ के उद्धरण प्राप्त होते हैं। अतएव प्रबन्धकोश का मल्लवादि द्वितीय मल्लवादि था, जो विक्रम की आठवीं शताब्दी का आचार्य था।

विक्रम की आठवीं शताब्दी में कान्यकुब्ज नरेश ने खेटकपुर (गुजरात की राजधानी खेड़ा) से गुर्जरवंशीय राजा को निकाल कर अपना राज्य स्थापित किया। उस समय वलभीपुर में सूर्यवंशी ध्रुवपट्ट नामक राजा राज्य करता था। कन्नौज के राजा आम ने रत्नगङ्गा नाम की पुत्री का विवाह ध्रुवपट्ट के साथ और दूसरी पुत्री का विवाह लाट देश (भृगुकच्छ) के राजा के साथ किया।[2] कदाचित् यही ध्रुवपट्ट (७वीं शती ई०) शीलादित्य कहलाया होगा, क्योंकि आदित्य (सूर्य) से उसे सूक्ष्म शिला प्राप्त हुई थी, जिसे वह आयुध के रूप में प्रयुक्त करता था।

---

१. दे० जैपइ, पृ० ३७८-३८०।

२. रामाफो, प्रथम भाग, पूर्वार्द्ध, पृ० ४९ पादटि०।

८. हरिभद्रसूरि प्रबन्ध

हरिभद्र का जन्म चित्रकूट (चित्तौड़) में हुआ था। उनमें ज्ञान, सम्मान और सत्ता इन तीनों का योग था। उस 'कलिकालसर्वज्ञ' का अभिमान एक विदुषी जैनसाध्वी याकिनी ने भंग कर दिया। तदनन्तर हरिभद्र ने अपने भांजे हंस और परमहंस को अपना प्रिय शिष्य बनाया।

एक बार वे दोनों शिष्य जिन-प्रतिमा के चित्र में तीन रेखाएँ खींच कर, उसे बुद्ध का चित्र बना उस पर पैर रखकर भाग आये। बौद्ध सैनिकों ने एक शिष्य को रास्ते में और दूसरे को चित्तौड़-दुर्ग के पास मार डाला। इससे हरिभद्र क्रोधित हुए। १४४० बौद्धों को एकत्र कर गर्म तेल की कढ़ाई में झोंकने की तैयारी होने लगी।

गुरु द्वारा भेजी गयी 'समरादित्य' चरित्र की चार गाथाओं को पढ़कर लोगों को बोध हुआ और शान्ति मिली। इसके प्रायश्चित-स्वरूप हरिभद्र ने १४४० ग्रन्थों का प्रणयन किया। चित्तौड़ की तलहटी के व्यापारियों ने उनके ग्रन्थों की प्रतियाँ करायीं और खूब प्रचार किया।

हरिभद्र ने श्रीमालपुर के एक क्षत्रिय द्यूतकार युवक को उपदेश दिया और उसके ज्ञान के लिये 'ललितविस्तरा' ग्रन्थ रचा। इसके बाद हरिभद्र अनशन करके सुरलोक सिधारे।

हरिभद्र का इतिवृत्त प्रभावकचरित, पुरातनप्रबन्धसंग्रह और पट्टावलियों में विस्तार से प्राप्त होता है। इस आचार्य के हारिल, हरिगुप्त और हरिभद्र तीन नाम आते हैं। हरिभद्र नामक छः प्रसिद्ध आचार्य हुए है।[१] इनमें से प्रथम हरिभद्र (७२५-८२५ ई०) का वर्णन प्रबन्धकोश में किया गया है। उनके पास एक ऐसा रत्न था जिसमें दीपक की तरह प्रकाश था जिससे आचार्य जी रात्रि में भी ग्रन्थ लिख लेते थे। हरिभद्र श्वेताम्बरों का सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ विद्वान् और आगम-ग्रन्थों पर संस्कृत में टीकाएँ लिखने वाला प्रथम व्यक्ति था।[२] कहा जाता है कि इस सर्वशास्त्रपारंगत ने १४४० ग्रन्थों की

---

१. चेलानी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५, २०, २१, २४, २८; ३१।

२. जैपइ, पृ० ४८०-४८२।

रचना की थी। उनमें से ८८ ग्रन्थों की खोज की गयी है जिनमें से २६ तो निश्चय ही उसकी कृतियाँ हैं।[1]

उद्योतनसूरि अपनी कुवलयमाला (७७८ ई०) की प्रशस्ति में स्वीकार करते हैं कि वह हरिभद्र के शिष्य थे। इसलिए मुनि जिनविजय ने हरिभद्र की तिथि ७००-७७० ई० निर्धारित की है।[2] हरमन याकोबी ने जिनविजय द्वारा प्रदत्त तिथि का अनुमोदन किया है।[3] किन्तु निम्नलिखित तथ्यों को ध्यान में रखते हुए इस तिथि का पुनरावलोकन करना आवश्यक हो जाता है।

हरिभद्र सिद्धसेन द्वितीय और उसकी सन्मति (५५०-६०० ई०) तथा इसके पूर्व के कई ग्रन्थकारों का सन्दर्भ और उद्धरण देते है। अकलंक (६२५-६७५ ई०) को वह सम्मान की दृष्टि से देखते है। अपनी अनेकान्तजयपताका में वे प्रायः अकलंक के तर्क की प्रशंसा करते हैं। भर्तृहरि (५९०-६५० ई०), धर्मकीर्ति (६३५-६५० ई०), कुमारिल (६००-६६० ई०) और धर्मोत्तर (७००-७८० ई०) प्रभृति विद्वानों का और उनके ग्रन्थों के उल्लेख हरिभद्र ने अपने ग्रन्थों में किये है। अतः हरिभद्र इनके बाद हुए हैं। फलतः हरिभद्र के साहित्यिक क्रिया-कलाप ८०० ई० के आगे तक फैल जाते हैं। हरिभद्र की ख्याति दीर्घायु के लिये भी है। अतएव हरिभद्रसूरि सम्भवतः ७२५-८२५ ई० के बीच रहे हैं।

६. बप्पभट्टिसूरि प्रबन्ध

सूरपाल (बप्पभट्टि) क्षत्रिय का जन्म ७४३ ई० में पञ्चाल देश के डूम्बाउधी ग्राम में हुआ था। उनके पिता बप्प और माता भट्टि

---

१. दे० 'समराइच्चकहा' में याकोबी द्वारा प्रस्तावना; प्रेमी वाल्यूम, पृ० ४५१; दास, एच० जी० : हरिभद्रचरित; जैन ग्रन्थावली (बेलानी) पृ० ५-७; जोहरापुरकर : पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५१; जैपइ, पृ० ४८५-४८६ पर हरिभद्र रचित कुल ५६ ग्रन्थों के नाम प्रकाशित किये गये हैं।

२. जिनविजय, 'डेट ऑफ हरिभद्र', समरीज, आल इण्डिया ओरियण्टल कॉंग्रेस, पूना, १९१९, पृ० १२४।

३. समराइच्चकहा की प्रस्तावना।

दोनों की स्मृतिस्वरूप गुरु सिद्धसेन सूरि ने दीक्षा के समय (७५० ई०) में सूरपाल का नाम वप्पभट्टि अपर नाम भद्रकीर्ति रखा। अध्ययन-काल में वप्पभट्टि का राजकुमार आम (नागभट्ट द्वितीय) से स्नेह हुआ, जो जीवनभर बना रहा।

उस समय गौड़ देश की राजधानी लक्षणावती में राजा धर्म (पाल) शासन कर रहा था, जिसकी राजसभा में कविराज वाक्पति भी विद्यमान था। भ्रमण करते हुए वप्पभट्टि वहाँ पहुँचे। धर्म (पाल) के प्रस्ताव पर उसकी ओर से बौद्ध दार्शनिक वर्द्धनकुञ्जर और आम राजा की ओर से वप्पभट्टि के बीच शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें वर्द्धनकुञ्जर की गुटिका (लघुपुस्तिका या नोटबुक) गिर जाने से वप्पभट्टि विजयी हुआ और 'वादिकुञ्जरकेसरी' कहलाने लगा।

आम गोपालगिरि (ग्वालियर) के कान्यकुब्ज राजा यशोवर्म (वत्सराज) और रानी सुयशा का पुत्र था। यशोवर्म (वत्सराज) के निधनोपरान्त आम राजा हुआ। इसके बाद ही ७५४ ई० में सिद्धसेन ने वप्पभट्टि को सूरिपद पर प्रतिष्ठित और राजा आम को प्रतिबोधित किया।

एक अन्य समय लक्षणावती पर आक्रमण हुआ। धर्म (पाल) मार गिराया गया और वाक्पति बन्दी बनाया गया। वाक्पति ने कारागार में 'गौड़वध' प्राकृत महाकाव्य रचा।

उधर जब आम एक नट-बालिका पर आसक्त हो गये तब वप्पभट्टि ने बोधक-पद्यों द्वारा राजा का मोह-भंग किया। वप्पभट्टि ने रैवतक के श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों में उत्पन्न मतभेद को दूर किया। जीवन की सन्ध्या में राजा आम ने समुद्रसेन के राजगिरि दुर्ग पर प्रथम आक्रमण किया, पर अपने पुत्र दुन्दुक (रामभद्र) के रहते उसे जीत न सका। अपने पौत्र की सहायता से उसे द्वितीय आक्रमण में विजय प्राप्त हुई।

तदनन्तर गोपगिरि आकर आम ने दुन्दुक को राज्य पर प्रतिष्ठित किया। आम ८३३ ई० में स्वर्गवासी हुए। राज्यासीन होते ही दुन्दुक त्रिवर्ग सेवन करने लगा। उसने कण्टिका गणिका को अन्तःपुर की स्त्री बना लिया। अन्ततः भोज मातुलिङ्गी विद्या द्वारा कण्टिका और

वेश्यागामी राजा दुन्दुक दोनों का पृथक्-पृथक् वध कर राज्य में प्रतिष्ठित हुआ। बप्पभट्टि ८३८ ई० में ९५ वर्ष की आयु पूर्णकर चल बसे।

बप्पभट्टिसूरि-प्रबन्ध का विश्लेषण करने से निम्नलिखित ऐतिहासिक तथ्य सामने आते हैं —

१. कन्नौज का राजा आम नागावलोक गौड़ नृपति धर्मपाल (७७०-८१० ई०) का प्रतिद्वन्दी तथा भोज (मिहिर) का पितामह था। वह बप्पभट्टि सूरि का मित्र एवं शिष्य था। उसकी मृत्यु ८३३ ई० में हुई थी। अतः इसे गुर्जर प्रतीहारवंशी 'नागभट्ट द्वितीय' (८००-८३३ ई०) माना जा सकता है।

२. धर्म गौड़ देश का पालवंशीय राजा धर्मपाल था। उसकी राजसभा में बौद्ध पण्डित वर्धनकुंजर था। धर्मपाल एक बौद्ध नरेश तो था किन्तु वर्धनकुंजर नामक बौद्ध पण्डित का नाम ज्ञात नहीं होता।

३. आम और गौड़ नरेश धर्मपाल में चिरन्तन वैर था। यह वैर उनके धर्मों—क्रमशः जैन और बौद्ध—के भेदों पर भी आधारित था। आम कान्यकुब्ज देश में राज्य करता रहा, जिसमें गोपगिरि (ग्वालियर), कालिंजर, सौराष्ट्र, रैवतक और प्रभास सम्मिलित थे। स्तम्भतीर्थ भी उसके राज्य में सम्मिलित था। आम (नागभट्ट द्वितीय और धर्मपाल में सन्धि हो गयी।

४. आम ने राजगिरि को भी जीता था, जिसकी पुष्टि भोज के ग्वालियर अभिलेख से होती है।[१]

५. आम नागावलोक का पुत्र दुन्दुक था और दुन्दुक का पुत्र भोज। यह रामभद्र का सम्भवतः विद्रूपित नाम है। रामभद्र कन्नौज का शासक था और कन्नौज में ही मिहिरभोज का जन्म हुआ था। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि रामभद्र ने सूर्य की उपासना करके सूर्यदेव की कृपा से एक पुत्र प्राप्त किया जिसको 'मिहिर' नाम दिया गया।[२] कन्नौज-मन्दिर के सूर्य देवता का नाम ही मिहिर था।

---

१. 'आमो राजगिरिमविक्षत्', वही, पृ० ४१; दे० ग्वा० प्र०।

२. 'सुतं रहस्य व्रतसुप्रसन्नात्सूर्यदिवापन्मिहिराभिधान', ग्वा० प्र० श्लोक १५।

स्कन्दपुराण में आम (नागभट्ट द्वितीय) को कान्यकुब्ज का सार्वभौम सम्राट कहा गया है।[1]

६. कन्नौज नरेश यशोवर्मा को आम का पिता लिखा है, जो इतिहासविरुद्ध है। राजशेखर को किसी पूर्ववर्ती से यह गलत सूचना मिली और यशोवर्मा का भ्रान्तरूप में चित्रण कर दिया। वस्तुतः आम (नागभट्ट) के पिता का नाम वत्सराज था। यशोवर्मा वह हो सकता है जिसने किसी गौड़ राजा को मारा था।

अन्त में पञ्चाल देश के डूम्बाउधी ग्राम के समीकरण की समस्या रह जाती है। एक जैन-परम्परा में इस ग्राम की पहचान पंजाब के दुलवा ग्राम से की गयी है क्योंकि दूर्वा, दूब और दुलवा समानार्थक हैं, किन्तु यह मत मान्य नहीं है। पञ्चाल देश में आधुनिक उत्तर प्रदेश के बरेली, बदायूं, फर्रुखाबाद और रुहेलखण्ड के समीपवर्ती जिले आते है।[2] कालान्तर में पञ्चाल के दो भाग हो गए—उत्तर और दक्षिण पञ्चाल।

अतः डूम्बाउधी ग्राम आधुनिक उत्तर-प्रदेश में ही खोजना पड़ेगा और वह भी दक्षिणी पञ्चाल में। क्योंकि दक्षिणी पञ्चाल गोपगिरि और कन्नौज के अधिक निकट है। महाभारत में कई पर्वों में इसका उल्लेख है।[3] ऐतरेय-ब्राह्मण में पञ्चाल के शासक दुर्मुख (डुम्मुख) का नाम मिलता है।[4] इसी दुर्मुख या डुम्मुख के नाम से काम्पिल्य के आस-पास कोई डूम्बाउधी ग्राम रहा होगा।

१०. हेमसूरि प्रबन्ध

चाङ्गदेव (हेमचन्द्र) का जन्म (१०८८ ई० में) धुन्धुक नगर में हुआ था। उनके माता-पिता—पाहिणि और चाचिग—मोढ़-

१. 'मिहिरं कान्यकुब्जे च', स्कन्दपुराण, ७. १. १३९. २२ (२)।

२. कनिघम : एंशिएण्ट ज्योग्रैफी, पृ० ३६०; रायचौधरी, हेमचन्द्र : प्रा० भा० का राज० इति०, पृ० १०४-१०६।

३. आदि०, अ० ९४, १०४; द्रोण०, अ० २२; उद्योग०, अ० १५६-१५७; वन०, अ० २५३, ५१३; विराट०, अ० ४।

४. ऐतरेय ब्राह्मण, आठवां, २३।

जातीय वणिक् थे। चाङ्गदेव ने देवचन्द्र सूरि से दीक्षा ली और हेमसूरि नाम से विख्यात हुआ। हेमसूरि ने सिद्धराज को रञ्जित किया। राजशेखर कहता है कि हेमसूरि के विषय में अनेक बातें प्रबन्धचिन्तामणि से ज्ञात होती हैं। अतः वह कतिपय नवीन प्रबन्धों को प्रकाशित करता है।

हेमसूरि ने कुमारपाल को अमारि और पशु-वध निषेध का उपदेश दिया। उसने राजा का कुष्ट रोग दूर कर दिया। उसके प्रतिबोध से कुमारपाल ने सपरिवार, मन्त्रियों व हेमसूरि के साथ शत्रुञ्जय, जयन्त आदि की तीर्थयात्रा की, नेमि-वंदना की और प्रभूत दान दिया।

चालुक्य-चाहमान संघर्ष

उस कुमारपाल की बहन (देवलदेवी) का विवाह चाहमान-वंशीय शाकम्भरी नरेश आनाक (अर्णोराज ११३०-५० ई०) से हुआ था। आश्चर्य है कि चौपड़ (शतरञ्ज) खेलते समय आनाक और उसकी पत्नी में 'मुण्डिकाओं को मारो' बात पर विवाद हो गया।[१] रानी अपने भाई कुमारपाल के पास शिकायत लेकर आयी। कुमार-पाल को गुप्त रूप से विदित हुआ कि क्रुद्ध आनाक ने व्याघ्रराज को कुमारपाल के वध के लिए नियुक्त किया था। कुमारपाल ने व्याघ्र-राज को मल्लयुद्ध में भूमिसात् कर दिया।

दोनों ओर से युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। कुमारपाल ने पार्ष्णि सेना का उपाय किया। आनाक ने द्रव्य-बल (उत्कोच) से कुमारपाल के नड्डूलीय चाहमान केल्हण आदि सामन्तों में मतभेद उत्पन्न कर अपने पक्ष में कर लिया। आनाक ने उन्हें उदासीन रहने का मन्त्र दिया। मालवा का राजपुत्र चाहड़ स्वयं रुष्ट होकर आनाक के पक्ष में चला गया। किसी तरह कुमारपाल ने अपने हाथी को नियन्त्रित करके आनाक को हौदे सहित भूमि पर गिरा दिया। कुमारपाल ने

१. 'मुण्डिका' द्व्यर्थक है। एक अर्थ हुआ शतरंज की शारी (गोट), दूसरा अर्थ हुआ टोपिका से रहित सिर, जो गूर्जर लोगों से जुड़ा हुआ है। दे० रामाफो, प्रथम भाग, उत्तरार्द्ध, पृ० १२६ टि० भी जहाँ मुण्डिका को जैन फकीरों से जोड़ा गया है।

अपनी बहन को दी गयी प्रतिज्ञा को दुहराया और 'उत्खातप्रतिरोपितव्रताचार्य' का विरुद धारण किया।[१]

हेमसूरि ने कुमारपाल को पूर्वजन्म का वृत्तान्त बतलाया कि महावीर-निर्वाण से ६४ वर्ष पश्चात् चरमकेवली जम्बू स्वामी को सिद्धि प्राप्त हुई। उसके १७० वर्ष बाद स्थूलभद्र स्वर्ग गये। फिर वज्रस्वामी दसपूर्वी और आदि संहनन गये। तदनन्तर धीरे-धीरे पूर्वकाल के सभी स्वामी प्रलय को प्राप्त हुए। पूर्वजन्म वाला वाणिज्यारक अगले जन्म में जयसिंहदेव हुआ और जयताक मरकर दूसरे जन्म में कुमारपाल हुआ।

हेमचन्द्र की जीवनी व उपलब्धियों का विशेष वर्णन प्रबन्धकोश के अलावा प्रभावकचरित, प्रबन्धचिन्तामणि, कुमारपाल-प्रबन्ध और जिनमण्डनकृत कुमारपालचरित में अधिक आता है। जयसिंह सूरि के कुमारपालचरित में भी उल्लेख है। भाउदाजी, पण्डित और ब्यूलर ने उसके जीवनचरित्र का सांगोपांग वर्णन किया है।[२] परन्तु प्रश्न उठता है कि सिद्धराज के यहाँ हेमचन्द्र ने प्रतिष्ठा क्यों पाई? धाराविजय के अवसर पर सिद्धराज ने भोजयुगीन साहित्य-सर्जना देखी होगी और वह गुजरात की ह्रासमान साहित्यिक दशा से व्यथित हुए होंगे। तब गुजरात के साहित्य की श्रीवृद्धि का कार्य हेमचन्द्र के हाथों में दिया होगा। अतः हेमचन्द्र का प्रवेश न तो राजनीतिक था और न धार्मिक। पाँच वर्ष की वय में चाङ्गदेव दीक्षित होकर सोमचन्द्र और २१ वर्ष की आयु में सूरि-पद पर प्रतिष्ठित होकर हेमचन्द्र सूरि कहलाया। 'न्यायकन्दली' टीका में राजशेखर कहता है कि हेमचन्द्र ने

---

१. इसका शाब्दिक अर्थ हुआ राजाओं को उन्मूलित कर पुनः-स्थापित करने के व्रत में कुशल। तुलना कीजिये — प्रयाग-प्रशस्ति में वर्णित समुद्रगुप्त की भ्रष्टराज्य उन्मूलन नीति से।

२. दे० देशीनाममाला ऑफ हेमचन्द्र, (सम्पा०) पिशेल, आर० : द्वितीय संस्करण, १९३८, पृ० १-१२; *कुमारपाल प्रबन्ध की प्रस्तावना, ज बा बा रा ए सो, भाग २५वाँ, पृ० २२२-२२४;* फोर्ब्स कृत रासमाला (सम्पा०) पण्डित, एस० पी० : भूमिका, हेमजी।

सिद्धराज को प्रबुद्ध किया। परन्तु सिद्धराज-प्रतिबोध के विषय में हेमचन्द्र स्वयं मौन हैं। प्रभाचन्द्र, मेरुतुङ्ग और जयसिंहसूरि ने संकेत तक नहीं किया है। इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र का प्रवेश धार्मिक उद्देश्य से अभिप्रेरित कदापि नही था। सिद्धराज शैव था और आजीवन शैव रहा। परन्तु कुमारपाल के सिंहासनासीन होने पर हेमचन्द्र का प्रभाव बढ़ा। हेमचन्द्र 'कलिकालसर्वज्ञ' हुए और कुमारपाल परमार्हत। इन परिस्थितियों को हेमचन्द्र ने नकद भुनाया, खूब धर्म-प्रचार किया। हेमचन्द्र से 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' को सोने-रूपे से लिखाकर सुना। एकादश अंग, द्वादश अंग, योगशास्त्र आदि लिखवाये गये। अभिधानचिन्तामणि, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, देशीनाममाला, द्वयाश्रयकाव्य, परिशिष्टपर्व आदि अत्यधिक प्रसिद्ध हैं।

८४ वर्ष की वय में हेमचन्द्र ने प्राण-त्याग किया, किन्तु 'हेमचन्द्र का युग' आज भी उनकी कृतियों में जीवन्त है। अतः निष्कर्ष निकलता है कि हेमचन्द्र का सम्बन्ध सिद्धराज के साथ उतना ही दीर्घकालिक (३० वर्षो का) था, जितना कुमारपाल के साथ। परन्तु दोनों सम्बन्धों में अन्तर यह था कि कुमारपाल उन्हें सदैव गुरु मानता रहा, जबकि सिद्धराज ने उन्हें विश्वस्त मित्र माना था। फिर भी राजसभा में रहते हुए भी हेमचन्द्र ने राजकवि का पद नही ग्रहण किया। हेमचन्द्र का व्यक्तित्व सार्वकालिक, सार्वदेशिक एवं विश्वजनीन रहा है किन्तु दुर्भाग्यवश अभी तक उसके व्यक्तित्व को सम्प्रदाय-विशेष तक ही सीमित रखा गया है।

११. हर्षकवि प्रबन्ध

हर्ष के पिता हीर थे और माता मामल्यदेवी थीं। उन्होंने अपने ग्रन्थ नैषध के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में अपनी ब्राह्मण माता का तथा कभी-कभी अपने अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है। हीर काशी के राजा विजयचन्द्र (११५५-६९ ई०) की और उसके पुत्र (? पौत्र) जयचन्द्र (११७०-९४ ई०) की राजसभा के पण्डित थे। हर्षकवि ने बाल्यावस्था में सम्भवतः माता-पिता के अधीन अध्ययन किया।

अनेक ग्रन्थों की रचनाकर श्रीहर्ष कन्नौज राजसभा में पहुँचे। उनका आगमन सुनकर राजा ने मन्त्री, राजसभा के विद्वानों आदि के साथ जाकर नगर परिसर में श्रीहर्ष का स्वागत सत्कार किया। पिता की आज्ञा शिरोधार्य कर सद्गुरु से तर्क, न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, वेदान्तादि दर्शन, योगशास्त्र और मन्त्रशास्त्र का सम्यक् अध्ययन किया। अन्ततः उन्होंने 'खण्डन खण्डखाद्य' की रचना करके उदयन का मद चूर्ण किया।

जब हर्षकवि ने राजाज्ञा से नैषध महाकाव्य रचकर राजा को दिखलाया तब राजा ने हर्ष से कहा कि कश्मीर जाकर वहाँ के राजा से ग्रन्थ के अभिनन्दित होने का प्रमाण-पत्र लाओ। महीनों बाद हर्षकवि ग्रन्थ की शुद्धता का राजमुद्रा प्रमाणित लेख लेकर काशी लौटे।

इसी बीच राजा की अभिषिक्त देवी के मेघचन्द्र पुत्र और सूहवदेवी के दुर्विनीत पुत्र उत्पन्न हुआ। मन्त्री विद्याधर ने राजा से सत्पुत्र मेघचन्द्र को राज्य देने की सम्मति दी, न कि पुनर्धूता पुत्र को। क्रुद्ध सूहवदेवी ने गंगा में डूबकर प्राण त्याग दिया। उधर सुरत्राण काशी पहुँचा, उसे नष्ट-भ्रष्ट किया और यवनों ने नगरी को खूब लूटा।

हर्षकवि की जीवनी राजशेखर को छोड़कर किसी प्राचीन विद्वान् ने नहीं लिखी है और न किसी ग्रन्थ में मिलती है। हर्षकवि प्रबन्ध राजशेखरसूरि की मौलिक रचना है। इस प्रबन्ध में उसके रोमाण्टिक पक्ष का वर्णन किया गया है किन्तु उसकी सामरिक और राजनीतिक उपलब्धियों को छोड़ दिया गया है। उसमें कहा गया है कि 'यस्य गोमती दासी'। गोमती के तटवर्ती भू-भाग उसके अधिकार में थे। परन्तु कुमारदेव प्रबन्ध में काशीपति जयन्तचन्द्र और सेनवंशीय लक्ष्मणसेन के बीच शत्रुता का उल्लेख मिलता है।

राजसभा से श्रीहर्ष के सम्पर्क का प्रमाण प्रबन्धकोश में है और स्वयं नैषध की ग्रन्थ-प्रशस्ति में उल्लेख है कि दो बीड़े पान के साथ कान्यकुब्जाधिपति ने उसका सम्मान किया। ऐतिहासिक दृष्टि से श्रीहर्ष के ग्रन्थ मूल्यहीन होते हुए भी नैषध की गणना 'बृहत्त्रयी' में की जाती है। नैषध उदात्त परम्परा और निचले सांस्कृतिक धरातल, ऊँचे और घटिया सौन्दर्य का संकुल मिश्रण है।

श्रीहर्ष का वंशज हरिहर नैषध की प्रतिलिपि गुजरात में पहले-पहल लाया था और वस्तुपाल की ही प्रेरणा से उस ग्रन्थ का खूब प्रचार उस प्रान्त में हो गया था।

१२. हरिहर प्रबन्ध

हरिहर नैपधचरित के कर्ता हर्षकवि (लगभग ११७४ ई०)[१] का वंशज था। वह गौड़देशीय सिद्ध सारस्वत और धनाढ्य व्यक्ति था। उसने गौड़ देश से गुजरात की ओर मार्ग में प्रभूत दान देते हुए प्रस्थान किया। धवलक्क की सीमा में पहुँच कर उसने वीरधवल, वस्तुपाल और सोमेश्वर कवि के लिए आशीर्वचन भेजा। वीरधवल और वस्तुपाल तो बड़े प्रसन्न हुए किन्तु सोमेश्वर की ईर्ष्या बढ़ गयी।

एक बार राजसभा में सोमेश्वर ने १०८ श्लोक पढ़े। तब हरिहर ने कहा, 'ये सब श्लोक उज्जयिनी के भोजदेव (१०१०-५५ ई०) के सरस्वती कण्ठाभरण प्रासाद की प्रशस्ति में मेरे देखे हुए है।'[२] तदनन्तर हरिहर ने उन सब श्लोकों को ज्यों-का-त्यों सुना दिया। फलतः राणक खिन्न, वस्तुपाल व्यथित और सोमेश्वर मृतक के समान जड़वत् हो गए। बाद में सोमेश्वर और हरिहर में प्रगाढ़ मैत्री हो गयी।

तदनन्तर वस्तुपाल की साहित्यिक गोष्ठियाँ बड़ी सजीव होने लगीं। हरिहर यथावसर हर्षकवि कृत नैपध महाकाव्य को पढ़ता रहता था। वस्तुपाल द्वारा नैपध की प्रति माँगने पर हरिहर ने केवल एक रात्रि के लिए अपनी निजी प्रति दी। वस्तुपाल ने उस एक रात में ही उसकी प्रतिलिपि करवा ली। इसके बाद हरिहर काशी में अपने लिए सिद्धि प्राप्त करने चले गए।

महामात्य वस्तुपाल के युग की साहित्यिक विभूतियों में से एक हरिहर भी था। इसीलिए राजशेखर ने अपने प्रबन्धकोश में एक पूरा

---

१. दे० शिवदत्त : नैपधीयचरित, प्रस्ता०, पृ० ९-१३; कृष्णमाचारियर, क्लैसिक संस्कृत लिटरेचर, पृ० १७७-१७८; वहुरा : विशेष ज्ञातव्य, रामाफो, प्रथम भाग, पूर्वार्द्ध।

२. तुलना कीजिए, प्रचि, पृ० ४०। उक्त प्रासाद-पट्टिका में उत्कीर्ण

प्रबन्ध उस पर लिखा है। वस्तुपाल को उपनाम 'वसन्तपाल' देने वालों में हरिहर एक था। हरिहर अपने समकालिक सोमेश्वर के काव्यों की सराहना किया करता था। उस कवि ने अपनी कीर्ति-कौमुदी[1] में हरिहर का वर्णन किया है। हरिहर के कुछ पद्य प्रबन्ध-कोश में उद्धृत है।

१३. अमरचन्द्रकवि प्रबन्ध

अमरचन्द्र अणहिलपत्तन के वायट महास्थान में जीवदेवसूरि और जिनदत्तसूरि की शिष्य-परम्परा में हुए। वह बुद्धिमान था और उसने अरिसिंह से सिद्ध-सारस्वत मन्त्र ग्रहण किया था। अमर ने काव्य-कल्पलता नामक कविशिक्षा, छन्दोरत्नावली, सूक्तावली, कला-कलाप और वाल-भारत की रचना की। वाल-भारत में प्रभात-वर्णन बड़ा सुन्दर किया गया है।

जैसे संस्कृत-साहित्य में कालिदास दीपशिखा-कालिदास, माघ घण्टा-माघ और हर्ष अनंगहर्ष कहलाते है, वैसे ही कवि-समूह ने अमर-चन्द्र को 'वेणीकृपाण' विरुद् से विभूषित किया था।[2] अमर महाराष्ट्र आदि के राजाओं द्वारा पूजित था। अमरचन्द्र के ग्रन्थों की कीर्ति सुनकर धवलक्क के राजा गुर्जराधिपति वीसलदेव (१२४६-६४ ई०) ने अपने प्रधान ठक्कुर वइजल को भेजकर अमरकवि को राजसभा में आमन्त्रित किया।

अमरकवि ने सोमादित्य, कृष्णनगर निवासी कमलादित्य, नानाक आदि अनेक कवियों की समस्या-पूर्ति की। एक बार अमर अपने कला गुरु अरिसिंह को राजा के पास ले गये थे। कालान्तर में अमर ने 'पद्म' के नाम पर पद्मानन्द नामक शास्त्र की रचना की थी।

कमलादित्य के निवास-स्थान कृष्णनगर का समीकरण वायुपुराण में वर्णित[3] कृष्णगिरि से नहीं हो सकता है, क्योंकि यह हिन्दूकुश पर्वत

---

१. कौ० कौ०, प्रथम, २५, पुण्यविजय संस्करण, १९६१, पृ० ४।

२. क्योंकि अमरचन्द्र ने बाल-भारत के एक श्लोक में नायिका के केशों (वेणी) की तुलना कामदेव के कृपाण से की है (आदिपर्व, ११.६)।

३. वायुपुराण, अ० ३६।

में काराकोरम के नाम से जाना जाता है और यह गुर्जराधिपति राजा वीसलदेव के धवलक्क नगर से काफी दूर पड़ता है। यह विजय नगर का कृष्णपुर भी नहीं हो सकता है क्योंकि कृष्णपुर को कृष्णराय ने बसाया था, जो बहुत बाद की घटना है।[1] कृष्णनगर ललितविस्तर में वर्णित कृष्णग्राम हो सकता है जो कपिलवस्तु के समीप स्थित था। कुछ विद्वानों ने इसका समीकरण उस स्थान से किया है जहाँ गौतम ने अपना राजसी वस्त्र, केश और कृपाण आदि का त्याग किया था।[2]

राजशेखर की मान्यता है कि अमरचन्द्र अरिसिंह का शिष्य था। यह युक्तिपूर्ण नहीं प्रतीत होती है। ये दोनों सहपाठी थे। अरिसिंह का दावा अमरचन्द्र का ललित कलागुरु होने तक ही सीमित है।

अमरकवि प्रबन्ध राजशेखर का मौलिक प्रबन्ध है जिसमें वह उस राजसभा का सजीव चित्रण करता है जहाँ विद्वानों का समागम राजसभा का महत्वपूर्ण अंग समझा जाता था। १३३७ ई० में महेन्द्र के शिष्य मदनचन्द्र ने अमरचन्द्र की एक प्रतिमा अणहिलवाड़ा में स्थापित की थी।[3] यद्यपि अमर किसी जैन गच्छ का नायक या आचार्य नहीं था, तथापि जैन-मन्दिर में उसकी प्रतिमा की प्रतिष्ठापना और पूजन उसके महत्व का परिचायक है।

१४. मदनकीर्ति प्रबन्ध

कवि मदनकीर्ति उज्जयिनी के विशालकीर्ति दिगम्बर के शिष्य थे। वे तीनों दिशाओं के वादियों को जीतकर, 'महा-प्रामाणिक-चूड़ामणि' का विरुद अर्जित कर उज्जयिनी लौटे। गुरुवचन का उल्लंघन कर विद्याभिमानी मदन दक्षिण के वादियों को जीतने कर्णाट पहुँचे।

वह वहाँ विजयपुर में कुन्तिभोज की राजसभा में प्रविष्ट हुए। वहाँ मदन और राजकुमारी मदनमञ्जरी के बीच यवनिका रहते हुए भी मदन ने राजकुमारी से ऐसा ग्रन्थ लिखवाना शुरु किया जो राजा

---

१. इपि० इण्डि० प्रथम, ३९८।

२. लॉ : हि० ज्यो०, पृ० ११८।

३. जिनविजय (सम्पा०) : प्राचीन जैन लेख संग्रह, भाग २, सिजैग्र, बम्बई, सं० ५२३।

के पूर्वजों से सम्बद्ध था। उन दोनों के प्रणय-संवाद ने यवनिका दूर और कौमार्य-व्रतभंग कर दिया। संशय होने पर राजा ने छिपकर प्रणय-कलह और अकृत्य देखा। उसने मदन के वध की आज्ञा दे दी। लेकिन राजकुमारी के दुस्साहस और मन्त्री की सलाह से दिगम्बर मुक्त कर दिया गया। अन्ततः उन दोनों का विवाह हुआ।

जब विशालकीर्ति ने यौवनधर्म के कुसंग की महिमा सुनी तब उन्होंने दिगम्बर मदन को बोधित करने के लिए चार शिष्यों को भेजा। उसके उत्तर में मदनकीर्ति ने गुरु के पास कतिपय पद्य लिखकर भेजे जिनसे यह ध्वनित हुआ कि प्रिया-दर्शन द्वारा निर्वाण प्राप्त हो सकता है। गुरु स्तब्ध रह गये और मदनकीर्ति सम्भवतः विविध विलासिताओं का भोग करता रहा।

मदनकीर्ति वह दिगम्बर कवि है जिसके ऊपर राजशेखर ने एक पृथक् और पूरा प्रबन्ध लिखकर अपने को साम्प्रदायिकता की आँच से बचा लिया है। मदनकीर्ति दिगम्बर के गुरु विशालकीर्ति का उल्लेख तो प्रबन्धकोश को छोड़कर अन्य किसी भी पूर्ववर्ती जैन-प्रबन्ध में नहीं हुआ है। स्वयं मदन का वर्णन प्रबन्धकोश के अलावा पुरातनप्रबन्धसंग्रह में केवल एक स्थल पर यत्किञ्चित् हुआ है।[१] अतएव राजशेखर द्वारा तत्सम्बन्धी एक स्वतन्त्र प्रबन्ध रचना उसकी धर्म-सहिष्णुता और इतिहास-प्रियता का द्योतक है।

मदनकीर्ति से सम्बन्धित दो प्रश्न हैं जिनका सन्दर्भ प्रबन्धकोश में नहीं है। एक है मदनकीर्ति और हरिहर की स्पर्द्धा और दूसरा है मदनकीर्ति और अर्हत्-दास की जीवनीविषयक समानता।

मदनकीर्ति और हरिहर की स्पर्द्धा का वर्णन पुरातनप्रबन्धसंग्रह में संगृहीत है। वस्तुपाल की आज्ञानुसार एक समय में उन दोनों में से कोई एक ही साहित्यिक गोष्ठी में प्रवेश कर पाता था। लेकिन एक बार दोनों का एक साथ समागमन हो गया। उनके विवाद को समाप्त करने के लिए वस्तुपाल ने शर्त रखी कि जो एक सौ श्लोक तत्काल रच देगा वह ही महाकवि कहलायेगा। मदनकीर्ति ने शीघ्र ही १०० श्लोक रच दिये, किन्तु हरिहर ९७ ही बना पाया। उसने

१. पुप्रस, पृ० ७७।

तर्क दिया कि काव्य में संख्या की अपेक्षा गुण का अधिक महत्व होता है। फलतः दोनों को पुरस्कृत किया गया। पुरातन-प्रवन्ध-संग्रह के इस इतिवृत्त की पुष्टि कृष्णकवि द्वारा संकलित सुभाषित रत्नकोश से भी होती है।[1]

जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है, सम्भवतः मदनकीर्ति ही कुमार्ग में ठोकरें खाते-खाते अर्हद्दास वन गये। 'अर्हद्दास' विशेषण जैसा कि मालूम होता है, वास्तविक नाम नहीं। उनके ग्रन्थों का प्रचार प्रायः कर्नाटक में ही रहा। विशालकीर्ति के प्रयत्नों से वे सत्पथ पर लौट आये और फिर अर्हद्दास वन गये।

१५. सातवाहन प्रबन्ध

सातवाहन का जन्म प्रतिष्ठानपुर में हुआ था। उसकी माता एक अप्रतिम रूपवती विधवा ब्राह्मणी थी और पिता शेष नामक नागराज था, जिसने उपभुक्ता विधवा को यह वचन दिया था कि 'संकट में मेरा स्मरण करना'। वाल्यावस्था में वह वालक अपने मित्रों के साथ क्रीड़ा करता था। वह स्वयं राजा वनकर मित्रों के लिए कृत्रिम वाहन हाथी, घोड़े, रथ आदि प्रदान किया करता था। 'सनोति' का अर्थ दान देना होता है, इस कारण वाहनों का दान देने से वह 'सात-वाहन' कहलाया।[2] किन्हीं कारणों से सातवाहन को प्रतिष्ठानपुर में राजा घोषित किया गया। वहाँ के एक वृद्ध के निधनोपरान्त उसके चारों पुत्रों के विवाद का निर्णय सातवाहन राजा ने ही बखूबी कर दिया था।

यह सुनकर उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य (५७ ई० पू०) ने प्रतिष्ठानपुर को सेना द्वारा चारों ओर से घेर लिया। संकट के समय

---

१. भण्डारकर प्रतिवेदन ४, पृ० ५७।

२. सनोतेर्दानार्थत्वात् लोकैः 'सातवाहनः' इति व्यपदेशं लम्भितः। १४वीं शताब्दी में जिनप्रभसूरि ने 'सातवाहन' शब्द की व्याख्या वितीक में इस प्रकार की है। व्याख्या का श्रेय जिनप्रभसूरि को मिलता है क्योंकि उन्हीं के कल्प से प्रको में यह प्रबन्ध शब्दशः उद्धृत किया गया है।

सातवाहन की माता ने शेष नागराज का स्मरण किया। शेष द्वारा प्रदत्त एक अमृत-घट के प्रभाव से मिट्टी के अश्व, रथ, हाथी, पदिक वाहन सजीव हो गए। विक्रमादित्य अवन्ति भाग गया। इसके पश्चात् सातवाहन का राज्याभिषेक हुआ। प्रतिष्ठानपुर में दिव्य वास्तु-अभिधान बने और दक्षिणापथ से लेकर उत्तर में ताप्ती पर्यन्त विजय की गयी और सातवाहन ने अपना संवत्सर प्रवर्तित किया। वह जैन हो गया।

कालान्तर में लोक-प्रसिद्ध सातवाहन इतिवृत्त इस प्रकार है। बाद वाले सातवाहन राजा का जन्म नागह्रद[1] में हुआ था जहाँ पीठजा-देवी का मन्दिर आज भी है। राजा हाल के समय में 'सातवाहन शास्त्र'[2] की रचना हुई। हाल ने खरमुख को अपना दण्डाधिकारी नियुक्त किया था।

अन्त में राजशेखर कहता है कि सातवाहनों की परम्परा में शक्ति-कुमार राज्याभिषिक्त हुआ था किन्तु विद्वान् जैन इसे संगत नहीं मानते हैं।

सातवाहनों के शासन की प्रारम्भिक तिथि २८ ई० पू० माननी होगी।[3] गोपालाचारी के अनुसार सातकर्णि (प्रथम) पुराणोक्त कृष्ण का पुत्र न होकर सिमुक का था।[4] क्योंकि इस सातकर्णि का कलिंग

---

१. नागह्रद का समीकरण मध्यप्रदेश के नागदा स्थान से किया जाता है जो उज्जैन के समीप है। दे० मजुमदार, आर० सी० (सम्पा०): द क्लासिकल एज, भा० वि० भवन, बम्बई, १९४४, पृ० १५८।

२. सातवाहन राजा हाल के समय में सातवाहनों के सम्बन्ध में जो शास्त्र बना उसे परवर्ती काल में 'गाथा सप्तशती' के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई क्योंकि मेरुतुङ्ग (प्रचि०, पृ० १०) सूचित करता है कि सात सौ गाथाओं वाला 'सातवाहन' संग्रह, गाथा-कोश-शास्त्र था। परम्परया यह 'गाथा सप्तशती' सातवाहन नरेश हाल द्वारा प्रणीत मानी जाती है। दे० पाण्डेय, च० भा० : आ० सा० मा० का इति०, पृ० ९०-९१।

३. राजदानी, पृ० ७८।

४. दे० पाण्डेय, चन्द्रभान, पृ० ४३।

राजा खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख में उल्लेख आता है।[1]

प्रतिष्ठान या पैठान राजा सातकर्णि (सातवाहन या शालिवाहन) और उसके पुत्र शक्तिकुमार की भी राजधानी थी, जिसकी पहचान नानाघाट अभिलेख के राजा सातकर्णि और कुमारशक्ति से की जाती है।[2] जैन-परम्परा के अनुसार सातवाहनों का अगला महत्त्वशाली और सत्रहवाँ राजा हाल पहली शती के अन्त या दूसरी शती के प्रारम्भ में हुआ।[3] सातवाहन प्रबन्ध में चमत्कारिक वर्णनों का अम्बार लगा है। राजशेखर यहाँ तक लिखता है कि उस सातवाहन ने संवत्सर भी प्रवर्तित किया, जबकि सत्य यह है कि सातवाहनों ने अपने अभिलेखों और मुद्राओं में किसी संवत्सर का उपयोग नहीं किया।

प्रबन्धकोश का सातवाहन प्रबन्ध तो प्रभावकचरित के प्रतिष्ठानपुर कल्प से शब्दशः उद्धृत है। अतः इस प्रबन्ध में राजशेखर की मौलिकता का पूर्णतया अभाव है, सिवा इसके कि प्रबन्ध के अन्त में वह इतिहासशास्त्र से सम्बन्धित दो विषयों को उठाता है, यथा कालक्रम का तुलनात्मक वर्णन तथा सातवाहन राजा के समीकरण का प्रयास। कालक्रम का तुलनात्मक और सकारण वर्णन करते समय वह "विद्वान् जैन इसे संगत नहीं मानते हैं" यह कह कर अपनी स्पष्टवादिता का परिचय देता है। "इसी प्रकार सातवाहन के पश्चात् सातवाहन और सातवाहन के क्रम में सातवाहन का होना यह (प्राचीन गाथा—अर्थात् इतिहास के) विरुद्ध नहीं है क्योंकि भोजपद पर बहुत

---

१. दुतिये च वसे अचितयिता सातंकनि पछिम, दिसं हय गज नर रथ बहुलं दंड पठापयति। इपि॰ इण्डि॰, जिल्द २०, पृ॰ ७२; दे॰ पाण्डेय राजबली : हि॰ ऐण्ड लिटररी इंस्क्रप्शंस, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, १९६२, पृ॰ ४६।

२. कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया, जिल्द १, पृ॰ ५३१।

३. पाण्डेय, राजबली : प्रा॰ भा॰, पृ॰ २११; विक्र॰ उ, पृ॰ १२; यही तिथि हरप्रसाद शास्त्री (इपि॰ इण्डि॰, बारहवाँ, पृ॰ २३० तथा गो॰ रा॰ ओझा (प्राचीन लिपिमाला, पृ॰ १६८) द्वारा भी मान्य है।

मे लोग भोजत्व को, जनक-पद पर बहुत से लोग जनकत्व को प्राप्त हुए, ऐसी रूढ़ि है।"[1] इससे एक कदम और आगे बढ़कर राजशेखर सातवाहन राजा के समीकरण का प्रयास करता है। वह कहता है कि श्री (महा) वीर के निर्वाण के ४७० वर्ष बाद (तदनुसार ५७ ई० पू० में) विक्रमादित्य राजा हुआ। तत्कालीन यह सातवाहन उसी प्रतिपक्ष में उत्पन्न हुआ।

१. प्रको, पृ० ७४।

अध्याय – ५

ऐतिहासिक तथ्य और उनका मूल्यांकन

(क्रमशः)

प्रस्तुत अध्याय पिछले अध्याय का पूरक है। प्रबन्धकोश के पन्द्रह प्रबन्धों का ऐतिहासिक मूल्यांकन कर लेने के बाद अब शेष नौ प्रबन्धों के ऐतिहासिक तथ्यों पर क्रमशः प्रकाश डाला जायगा।

१६. वङ्कचूल प्रबन्ध

पारेत जनपद[1] की सीमा पर चर्मण्वती[2] के तट पर ढींपुरी नगरी थी। वहाँ के राजा विमलयश और रानी सुमङ्गला को पुष्पचूल और पुष्पचूला नामक दो सन्तानें हुई। बाल्यकाल में अनर्थक कार्य करने के कारण राजकुमार पुष्पचूल को वङ्कचूल कहा जाने लगा। रुष्ट होकर राजा ने वङ्कचूल को निर्वासित कर दिया।

जङ्गल में भीलों ने उस राजपुत्र (क्षत्रिय) को सिंहगुहापल्ली का पल्लीपति बना दिया। एक बार वर्षाऋतु में सुस्थिताचार्य अर्बुद पर्वत से अष्टापद आये और सिंहगुहापल्ली में टिके। राजा वङ्कचूल ने अपनी राज्य सीमा के अन्तर्गत धर्मकथा कहने और उपदेश देने की मनाही कर दी। सुस्थिताचार्य की सरलता से वङ्कचूल प्रभावित हुआ।

---

१. प्रको, पृ० ७५; वितीक, पृ० ८१। यह सम्भवतः उत्तर-पश्चिम की किसी बर्बर जाति का निवास-स्थान रहा हो (पार्जिटर : एं० इं० हि० ट्रे०, पृ० २०६, २६८)। पुराणों (मार्कण्डेय, सर्ग ५८, २०; वायु. ४५, ९८) में इसके उल्लेख है।

२. प्रको, पृ० ७५-८०; वितीक (चर्मण्वती) पृ० ८१, ८२; चर्मण्वती (चम्बल) यमुना की सहायक नदी है। अरावली से निकलती है। अष्टाध्यायी (आठवां, २. १२) और पुराणों (पद्म, उ० खण्ड, प० ३५.३८; मार०; ५७. १९-२०) में चर्मण्वती के वर्णन आते हैं।

और उन्होंने उसे चार नियम बतलाये।[1] भविष्य में वङ्कचूल के लिए उन नियमों के अति शुभ फल हुए।

सुस्थिताचार्य के दोनों शिष्यों—धर्मऋषि और धर्मदत्त ने भी वङ्कचूल को उपदेश दिये जिनके फलस्वरूप वङ्कचूल ने चर्मण्वती के किनारे चैत्य-निर्माण और महावीर-प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की। तब से वह तीर्थस्थल रूढ़ हो गया। वही सिंहगुहापल्ली कालक्रम से ढींपुरी कही जाने लगी।

एक बार राजा वङ्कचूल ने ग्रीष्मऋतु में एक गाँव लूटने का असफल प्रयास किया। भूख-प्यास और गर्मी से व्याकुल उसके सैनिकों ने अज्ञात फल खा लिये और महानिद्रा में लीन हो गए। परन्तु वङ्कचूल को पहला नियम याद था। चूँकि उसने अज्ञात फल नहीं खाया था, वह बच गया।

तत्पश्चात् राजा वङ्कचूल अपनी रानी के चरित्र को जानने के लिए महल में छिपकर प्रविष्ट हुआ। उसे पर-पुरुष के साथ प्रत्यंक पर सोई देखकर ज्यों ही वङ्कचूल ने तलवार खींची, उसे दूसरे नियम की स्मृति हुई। सात आठ कदम पीछे हटते ही तलवार दरवाजे से टकराई। पुरुषवेश में सोई बहन पुष्पचूला जगी, जिसे देखते ही वङ्कचूल का रोष जिज्ञासा में बदल गया।

एक दूसरे अवसर पर वङ्कचूल चोरी करने की नीयत से उज्जयिनी गया। वहाँ की अग्रमहिषी उसके सौन्दर्य पर न्योछावर हो गयी। उसी समय वङ्कचूल को अपनी तृतीय प्रतिज्ञा का स्मरण हुआ। वङ्कचूल के उत्कृष्ट चरित्र से उज्जयिनी का राजा प्रभावित हुआ। उसने वङ्कचूल को सामन्त-पद प्रदान किया और उज्जयिनी के निकटवर्ती शालिग्राम निवासी श्रावक जिनदास ने वङ्कचूल से मैत्री की।

तदनन्तर उज्जयिनी के राजा ने वङ्कचूल को कामरूप[2] विजय के

---

१. (१) अज्ञात फल-भक्षण न करना, (२) सात-आठ कदम पीछे हटे बिना किसी पर आघात न करना, (३) पटरानी को माता के समान मानना तथा (४) काक-मांस-भक्षण न करना।

२. महाभारत-काल में प्राग्ज्योतिष (कामरूप) का शासक (किरात-

लिए भेजा। युद्धकला में अद्वितीय वङ्कचूल ने प्रतिपक्षी को जीत तो लिया किन्तु स्वयं उसका शरीर घाव से जर्जर हो गया और वह उज्जयिनी लौटा।

वङ्कचूल के चौथे व्रत की परीक्षा शेष थी। उपचार के लिए राजवैद्यों ने उसे काक-मास-भक्षण का परामर्श दिया। वङ्कचूल को यह स्वीकार नहीं था। मित्र जिनदास आदि सभी के सारे प्रयत्न विफल हुए। धर्माराधन ही वङ्कचूल की औपधि थी। चूंकि वङ्कचूल ने काक-मांस-भक्षण नहीं किया, उसे बारहवाँ स्वर्ग अच्युत-कल्प प्राप्त हुआ।

वङ्कचूल का वर्णन प्रबन्धकोश के अलावा जिनप्रभकृत विविध-तीर्थकल्प (१३३२ ई०) में भी उपलब्ध है। विडम्बना यह है कि प्रबन्धकोश का 'वङ्कचूल प्रबन्ध', विविधतीर्थकल्प के 'ढिंपुरीतीर्थकल्प' तथा 'ढिंपुरीस्तव' नामक प्रबन्धों से अक्षरशः उद्धृत किया गया है।[1] १९३५ ई० में जिनविजय ने कहा था कि ऐतिहासिक दृष्टि से वङ्कचूल की कथा वैसी अज्ञात है, जैसी रत्नश्रावक की। फिर भी उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर इस प्रबन्ध की ऐतिहासिकता स्थापित करने का प्रयास किया जायगा। सर्वप्रथम पारेत जनपद के समीकरण का प्रश्न उठता है। राजशेखरसूरि के आवास-प्रदेश ढिल्लिका (वर्तमान दिल्ली से पारेत और कश्मीर काफी दूर थे। इसलिए उसने वहाँ के वङ्कचूल नामक राजा और रत्न नामक श्रावक के इतिवृत्त अत्यन्त सामान्य प्रकार के ही दिये हैं। पारेत जनपद सम्भवतः पारद ही है। पारद लोग पश्चिमी भारत के निवासी थे, जिन्होंने चम्बलघाटी तक अपना प्रसार कर लिया था।[2] पुराणों में वर्णित पारा आधुनिक

वंशीय) भगदत्त था तथा हर्षवर्धन के समय में भास्कर वर्मन। राजा वङ्कचूल के समय में कामरूप के राजा का नाम दुर्धर था।

१. जिनविजय, प्रास्त० वक्तव्य, प्रको, पृ० १।

२. रामायण (चतुर्थ, ४४. १३); महाभारत, भीष्म १०. ६४; सभा० ५२. ३-४), पुराणों, भुवनकोश, बृहत्संहिता, जैनग्रन्थ प्रज्ञापणा, बौद्ध-ग्रन्थ महामायूरी में आया है। दे० मनुस्मृति, १०. ४४; इण्डि० एण्टि०, २२, पृ० १८७; ज ऑफ द यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी, १५, भाग २, पृ० ४७।

पार्वती नदी है जो भोपाल से होती हुई चम्वल में गिर जाती है। इसके समीपवर्त्ती वनीय प्रदेश ही पारेत जनपद हैं।

इसी पारेत जनपद में चर्मण्वती और रन्ति नदी के उल्लेख वङ्कचूल प्रवन्ध में आये हैं। चर्मण्वती आधुनिक चम्वल है और यमुना की सहायक नदी है। वध्य गायों के चर्म से रिसते हुए रक्त से इस नदी का उद्भव हुआ था। रन्तिदेव द्वारा यज्ञ में काफी संख्या में गायों की वलि दी गयी थी। इसलिए चर्मण्वती को रन्ति नदी भी कहा जाने लगा। राजशेखर कहता है कि ढिपुरी नगरी पारेत जनपद की सीमा पर इसी चर्मण्वती नदी के तट पर स्थित थी। उसी स्थान के समीप चर्मण्वती का जलदुर्ग और घने जंगलों में भीलों का राज्य था। भीलों के पल्लीपति की मृत्यु के वाद वङ्कचूल को भीलों के प्रमुख का दायित्व सौंपा गया। आज भी चम्वल घाटी के वीहड़ और भील आदिवासी विख्यात हैं।

ढिपुरी तीर्थ के लिए अर्वुद पर्वत से अष्टापद आना पड़ता था। प्रवन्धकोश से स्पष्ट है कि राजा वङ्कचूल ही सिंहगुहापल्ली के समीप ढिपुरी तीर्थ का निर्माता था। जैनों ने मानव-आवासों से दूर पवित्र स्थानों को चुना क्योंकि उनके सम्प्रदाय का चरित्र तापसी-मार्ग है और वे पशुवध को बचाना चाहते हैं। इसलिए राजपूताने में आबू पर्वत, काठियावाड़ में पालीताना और गिरनार, मालवा में धुमनार की पहाड़ी और पूर्व में पारसनाथ पहाड़ी का उन्होंने चयन किया।[1]

इन प्राकृतिक और भौगोलिक उल्लेखों से प्रतीत होता है कि ढिपुरी तीर्थ मालवा की धुमनार-पहाड़ी पर स्थित रहा होगा जहाँ आज अनेक जैन गुफाएँ हैं क्योंकि बूँदी से कोटा जाते समय वीच में वारोली, धुमनार की पहाड़ी, चम्वल नदी, झालरा पट्टन, चन्द्रावती आदि स्थान आते हैं।[2] धुमनार पहाड़ी का व्यास लगभग ८ किलोमीटर और ऊँचाई ४२.५ मीटर है। ऊपर समतल मैदान है, उसके

१. क्रुक, डब्ल्यू० : इन्साइ० रि० ऐ० एथि०, १९५२, जिल्द दसवीं, पृ० २४-२५।

२. वैगस, पृ० २०५।

बगल में प्राकृतिक कोट बना है जिसमें लगभग १७० गुफाएँ हैं। कुछ में मूर्तियाँ हैं और कुछ में साधु निवास करते हैं, किन्तु चम्बल नदी की ओर जो जैन गुफाएँ हैं उनमें वृषभ, शान्ति, नेमि, पार्श्व और महावीर की मूर्तियाँ है। इस प्रकार ढिपुरी एक प्राचीन तीर्थ है, जो आज मालवा में चम्बल के किनारे धुमनार की गुफा के पास सम्भवतः चन्द्रावती के खण्डहर के रूप में विद्यमान है।

अब समस्या है राजा वङ्कचूल के समीकरण की। वङ्कचूल के उदाहरण प्राकृत 'वक्कचूडकहा' और गुजराती काव्यों में आते है।[1] भारतीय इतिहास में चूड़चन्द्र नामक एक राजा का उल्लेख आता है जो वामनस्थली के चन्द्रवंशी बालाराम चावड़ा का उत्तराधिकारी था, परन्तु रक्त-सम्बन्धी नहीं था, क्योंकि फोर्ब्स उसे यदुवंशी बतलाता है।[2] रूसी शौर्यमयी पौराणिक कथा-साहित्य में वंक नामक एक विधवा-पुत्र के विषय में जो गीत गाये गए है वे एक राजकुमारी की कथा पर आधारित हैं।[3] किन्तु ध्वन्यात्मक साम्य के अतिरिक्त चूड़चन्द्र या रूसी वंक का वंकचूल से तनिक भी सम्बन्ध नही है।

वस्तुतः वङ्कचूल ढिपुरी के राजकुमार पुष्पचूल का विद्रूपित नाम था। बाल्यकाल में पुष्पचूल अपनी शक्ति का उपयोग रचनात्मक कार्यों में न करके अवांछनीय कार्यों में करने लगा। वह स्वयं चौर्य कार्य, अनर्थक कार्य आदि दुर्व्यसनों में, राज्य के नागरिकों को उत्तप्त करने में तथा बड़े टेढ़े और क्रूर कर्म करने में लिप्त हो गया था। अतः उसका नाम वङ्क (वक्र) चूल या वंक (क्रूर) चूल पड़ गया।

राजशेखर ने सातवाहन प्रबन्ध और विक्रमादित्य प्रबन्ध के बीच

---

१. जिरको, पृ० २४० । इस कृति के रचयिता और रचना-काल अज्ञात हैं। दे० जैन गुर्जर कवियों, भाग १, पृ० ४८३, पृ० ५८९ ।

२. रामाफो, प्रथम भाग, पूर्वार्द्ध, पृ० १८ ।

३. राष्ट्रों ने अपनी वीर-गाथा कालों की तथा विख्यात राष्ट्रीय नायकों की स्मृति सुरक्षित रखी है। भारतीयों और स्लाव-जातियों द्वारा इस प्रकार की गाथाएँ गायी गयी हैं। दे० मैकल, जे० : इनसाइ० रि० ऐ० ए०, १९५५, जिल्द छठीं, पृ० ६६४-६६५ ।

में वङ्कचूल प्रवन्ध को स्थान दिया है, इसलिए वङ्कचूल के विक्रमादित्य से पहले अथवा वरिष्ठ समकालीन होने की सम्भावना अधिक है। वङ्कचूल प्रथम शताब्दी ई० पू० के पहले का राजपुरुष रहा होगा क्योंकि एक स्थल पर उसे उज्जयिनी के विद्वान् राजा का सामन्त बताया गया है, जो दूसरे स्थल पर उसे सुस्थिताचार्य का समकालीन वतलाता है। यदि वङ्कचूल के समकालीन राजाओं और आचार्यों का कालक्रम-निर्धारण किया जाय तो उसके समय-निर्धारण में सुगमता होगी।

श्वेताम्वर और दिगम्वर दोनों साक्ष्य एक मत हैं कि चन्द्रगुप्त मौर्य २१० या २५५ वीर सं० (३१७ या ३१२ ई० पू०) में हुआ था। किन्तु यह तिथि उज्जयिनी पर चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-विस्तार की सूचक है, न कि उसके पाटलिपुत्र में राज्यारोहण की। वह इस तिथि के चार-पांच वर्ष पूर्व ३२१ ई० पू० में गद्दी पर बैठा था और मगध में स्थिति सुदृढ़ करने के वाद उसने उज्जयिनी पर आक्रमण किया होगा। इससे सिद्ध होता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य (३२१-२९७ ई० पू०) के समकालीन सुस्थिताचार्य (निधन १२८ ई० पू०)[1] नहीं थे वल्कि भद्रवाहु द्वितीय थे जिनके साथ वह दक्षिण गया और अनशन कर शरीर त्यागा होगा। अतः सुस्थिताचार्य को जिस चन्द्रगुप्त का समकालिक वताया गया है वह मौर्य साम्राज्य-संस्थापक चन्द्रगुप्त नहीं अपितु दशरथ मौर्य का भाई और उत्तराधिकारी सम्प्रति (२१६-२०७ ई० पू०) हो सकता है। कई एक इतिहासकार सम्प्रति को मौर्यवंश का द्वितीय चन्द्रगुप्त और कई उसे जैन अशोक तक मानते हैं।[2]

सम्प्रति ने अशोक, कुणाल और दशरथ तीनों के शासन-कार्यों में सहायता की थी। उसे पाटलिपुत्र और उज्जैन दोनों में शासन करते

---

१. जैपह, पृ० १९६, पृ० २११; मुकर्जी, आर० के० : चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स, दिल्ली, १९५२, पृ० ३९-४१; पाण्डेय, राजवली : प्राचीन भारत, पृ० १९१।

२. स्मिथ : अर्ली हिस्टरी ऑफ इण्डिया, पृ० २०२; पाण्डेय, राजबली : प्राचीन भारत, पृ० १८१; जैपह, पृ० २०५; *विनाश भारत*, पृ० २७१।

हुए दर्शाया गया है।[१] अजमेर, कुम्भलमेर और गिरनार में उसके द्वारा निर्मित और महावीर को समर्पित मन्दिरों के अवशेष आज भी पाये जाते हैं। अभिलेख[२] और मुद्राएँ भी ये प्रमाणित करती है कि उसकी रुझान जैनधर्म की ओर थी। सम्प्रति के एक सिक्के पर एक ओर ऊपर-नीचे सम्प्र और दी शब्द लिखा है और दूसरी ओर ऊपर-नीचे ॐ और ∴ चिह्न है। किसी-किसी सिक्के में ∴ के नीचे 卐 (स्वस्तिक) चिह्न बने है। इन सिक्कों से उसके राज्य-शासन पर प्रकाश पड़ता है। सामान्य रीति से मौर्य सिक्कों में ऊपर से नीचे ॐ, ∵ और 卐 चिह्न हैं। जैन हमेशा प्रभु के सामने यह निशान बनाते हैं।[३] इससे भी इस विचार को बल मिलता है कि सम्प्रति जैन अशोक और द्वितीय चन्द्रगुप्त कहलाने का अधिकारी था जिसके समकालीन सुस्थिताचार्य और वङ्कचूल थे।

इसके बाद प्रश्न है राजा विमलयश और उसके पुत्र वङ्कचूल के शासनान्तर्गत प्रदेश की सीमा का। सम्प्रति को पाटलिपुत्र और उज्जैन दोनों में शासन करते हुए दर्शाया गया है। इससे प्रतीत होता है कि उज्जयिनी उसकी द्वितीय राजधानी थी। सम्प्रति ने जिस अधिकारी को उज्जयिनी के समीप ढिंपुरी नगरी में नियुक्त किया, वह विमलयश था, जिसे प्रस्तुत प्रबन्ध में अति उत्साह के कारण राजा कह दिया गया है। विमलयश राजा भले ही न रहा हो किन्तु वङ्कचूल प्रबन्ध-कोश के अनुसार सिंहगुहापल्ली का पल्लीपति अवश्य था, जिसकी स्थिति आस-पास के बीहड़ और पर्वतीय इलाकों में किसी स्थानीय राजा से कम न थी।

---

१. जैपइ, पृ० २०४; बाली, चन्द्रकान्त : पत्रिका, २०३९, पृ० ९८; परिशिष्टपर्वन्, दसवाँ, ग्यारहवाँ; रायचौधरी, प्राभारा इति, पृ० २५८।

२. टाड : एनल्स ऐण्ड ऐण्टि० ऑफ राज०, ग्रन्थ १, पृ० २९०; राजपूताना गजेटियर, शिमला, १८८०, तृतीय, पृ० ५२; दे० फोर्ब्स : रासमाला, १८५६, प्रथम, पृ० ७; प्रोग्रे० रिपोर्ट, ए एस डब्ल्यू आई, १९०९-१०, पृ० ४१।

३. माडर्न रिव्यू, १९३४, जून, पृ० १४७।

यह प्रमाणित किया जा चुका है कि सम्प्रति की दो राजधानियाँ थीं और उसके समकालीन सुस्थिताचार्य थे। लेकिन सम्प्रति को प्रतिबोधित करने का श्रेय गुरु सुहस्तिसूरि को है, न कि सुस्थिताचार्य को। पहली राजधानी में गुरु सुहस्ति ने सम्प्रति को जैनधर्म में दीक्षित किया और दूसरी राजधानी के समीप शिष्य सुस्थित ने वङ्कचूल को।

सुस्थित के दोनों शिष्यों — धर्मऋषि और धर्मदत्त की पहचान ऋषिदत्त और अर्हद्दत्त से की जा सकती है जो सुस्थित के पाँच प्रमुख शिष्यों में से अन्तिम दो थे। वङ्कचूल द्वारा कामरूप-विजय पर प्रश्न-चिह्न लगाना पड़ता है। प्रबन्धकोश में वर्णन है कि वङ्कचूल को उज्जयिनी के राजा का सामन्त बन जाने के बाद कामरूप-विजय के लिए जाना पड़ा। वहाँ के राजा का नाम दुर्धर कहा गया।[1] वङ्कचूल युद्ध में घाव से जर्जर हो गया, फिर भी वह जीतकर अपने स्थान लौटा। किन्तु ढिंपुरी से असम की अत्यधिक भौगोलिक दूरी और यातायात के मन्दगामी साधनों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखरसूरि ने कामरूप-विजय की कल्पना जैनधर्म के प्रति अति आस्था के कारण कर ली होगी, क्योंकि प्रबन्धकार एक ऐसे प्रदेश पर जैन धर्मावलम्बी की विजय दर्शाना चाहता था जो कश्मीर की भाँति शक्ति-पूजा का केन्द्र हो।

अन्त में, यदि कतिपय अतिशयोक्तियों एवं चमत्कारिक वर्णनों को त्याग दिया जाय तो राजा वङ्कचूल का प्रबन्ध महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य प्रदान करता है। वङ्कचूल का इतिवृत्त क्रूरता के माध्यम से उदारता की ओर वैराग्य के माध्यम से अध्यात्म की पराकाष्ठा है। इस प्रबन्ध में सत्संगति के माहात्म्य पर प्रकाश डाला गया है। सम्प्रति-कालीन सुस्थिताचार्य के चार महीनों के आगात-प्रवास से राजकुमार वङ्कचूल का हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ, किन्तु उनके द्वारा बतलाये गये चार नियमों ने उसकी क्रूरता को समाप्त कर उसे उदार-मना राजा अवश्य बना दिया। इस प्रकार राजशेखर ने प्रबन्ध-कोशान्तर्गत वङ्कचूल को राजवर्ग में सम्मिलित करने का औचित्य भी सिद्ध कर दिया।

---

१. जैन महानिधि, भाग २४, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ७०।

१७. विक्रमादित्य प्रबन्ध

विक्रमादित्य अवन्ति का राजा था। उसके पुत्र का नाम विक्रम-सेन था। इतिहास-लेखन में रोचकता लाने के लिए राजशेखर ने विक्रमादित्य के सिंहासन में लगी चारों काष्ठ पुतलियों के माध्यम से इतिवृत्त का वर्णन किया है। एक बार देशान्तर जाकर विक्रमादित्य ने एक योगी से परकाया-प्रवेश विद्या सीखी और उस विद्या का भी परीक्षण किया।

अग्निवेताल के साथ जाकर विक्रमादित्य लीलावति से मिला जिसके रूप-दर्शन से राजा को प्रेम हो गया। तत्पश्चात् वेताल ने विक्रमादित्य को चार उपकथाएँ सुनायीं जो काष्ठ-भक्षण, नियोग, पतिव्रता तथा पति-धर्म से सम्बन्धित थीं।

विक्रमादित्य का इतिवृत्त सुनकर उसके पुत्र विक्रम का गर्व जाता रहा है। विक्रमादित्य ने रामायण का अध्ययन किया। तत्पश्चात् उसके मन में गर्व हुआ कि वह भी राम की तरह प्रजा को सुखी करेगा। एक बार किसी रत्न की परीक्षा कराने के लिए विक्रमादित्य वेताल के साथ राजा वलि के पास पहुँचे। वलि बोला, ऐसे हजारों रत्न राजा युधिष्ठिर प्रतिदिन सुपात्रों को दिया करते थे। इस रत्न का कोई मूल्य नहीं है।

प्रबन्धकोश के अतिरिक्त प्रभावकचरित, प्रबन्धचिन्तामणि, पुरा-तन-प्रबन्ध-संग्रह आदि भी विक्रमादित्य की जीवनी और उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हैं। यद्यपि ये प्रबन्ध ऐतिहासिक और वास्तविक पुरुष विक्रमादित्य के हैं तथापि अनेक काल्पनिक और चमत्कृत कथाओं के अतिरिक्त कोई गौरवपूर्ण बात नहीं ज्ञात होती है।

विक्रम विरुद् धारण करने वाले अनेक राजा हुए हैं, यथा—आदि विक्रमादित्य (५७ ई० पू०), शातकर्णी शालिवाहन, अग्निमित्र, कनिष्क, गौतमी पुत्र, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५-४१४ ई०), स्कन्दगुप्त (४५५-४६७ ई०), यशोधर्म (५३२-३३ ई०), हर्ष, हेमू (१५५६ ई०) आदि। परन्तु इनमें से कोई भी ऐसा नहीं था जो अवन्तिपति, शकविजेता और संवत् प्रवर्तक तीनों एक साथ रहा हो।

आदि विक्रमादित्य मालवों का प्रतिनिधि सागरिक प्रमाणित होता है जिसने शकों को हराकर देश से बाहर निकाल दिया। भारत से उनकी शक्ति मिटाकर एक परम्परा की नींव डाली जिसे आगे आने वाले विक्रमादित्यों ने पाला और निवाहा।

विक्रमादित्य अवन्तिपति, शकविजेता और संवत्सर प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं। वे सिद्धसेन दिवाकर के उपदेश से जैन बने। उन्होंने जिनालय बनवाये, जिन-बिम्बों की स्थापना करायी, शत्रुञ्जय तीर्थ का उद्धार कराया और पृथ्वी को ऋण मुक्त कर शकों को हराकर संवत् प्रवर्तन किया। भले ही वह जैन-धर्म के प्रभाव में रहा हो और उसे संरक्षण प्रदान करता हो, विक्रमादित्य का वंशानुगत और व्यक्तिगत धर्म शैव धर्म था।

१८. नागार्जुन प्रबन्ध

नागार्जुन राजपुत्र क्षत्रिय थे। उनका जन्म-स्थान ढंक नगर था। उनके पिता वासुकि नाग और माता राजपुत्री भोपल देवी थी। फलतः नाग से उत्पन्न पुत्र का नाम नागार्जुन हुआ।[1] उसे अनेक औषधियों का सेवन कराया गया जिससे नागार्जुन को सिद्धियाँ प्राप्त हुईं। कालान्तर में वह सातवाहन राजा का कला-गुरु और पादलिप्ताचार्य का शिष्य हो गया। उसके कौशल से चमत्कृत हो आचार्य ने उसे पादलिप्तपुर में[2] गगन-गामिनी विद्या सिखला दी।

राजपुत्र नागार्जुन ने रस-सिद्धि के निमित्त द्वारवती की पार्श्व-

---

१. तुलनीय प्रभाच, पृ० ३६, जहाँ पिता का नाम संग्राम और माता का नाम सुव्रता बताया गया है। इनके गर्भ में आते ही माता ने स्वप्न में सहस्र फणों वाला नाग देखा था। इसीलिए इनका नाम नागार्जुन रखा गया। जैपइ, पृ० २४०।

२. सौराष्ट्र में पालिताणा नामक नगर। नागार्जुन ने सूरिजी की स्मृति में सिद्धगिरि की तलहटी में पादलिप्तपुर नामक नगर बसाया था। जैपइ, पृ० २४१। पालिताणा का प्राचीन नाम तिलनिरपट्टण था। दे० जैपइ, पृ० ३३५।

प्रतिमा का अपहरण कर सेडी नदी[1] के किनारे प्रतिष्ठापन किया। वह उस प्रतिमा के समक्ष सातवाहन की रानी चन्द्रलेखा से प्रत्येक रात्रि रसमर्दन करवाता था। रस-स्तम्भन से पार्श्वदेव के उस स्थान का नाम स्तम्भनतीर्थ तथा गाँव का नाम स्तम्भनपुर पड़ा।

जिनविजयजी ने नागार्जुन की कथा को ऐतिहासिक दृष्टि से सन्दिग्ध माना है। "उसके कोई राजा या राजपुरुष होने की बात ज्ञात नहीं होती। प्रबन्धगत वर्णन से तो वह कोई योगी अथवा सिद्ध-पुरुष ज्ञात होता है। तो फिर ग्रन्थकार (राजशेखरसूरि) ने उसकी गणना राजा या राजपुरुष के रूप में किस आशय से की है सो ठीक समझ में नहीं आता।"[2]

जिनविजय की अनास्था शीघ्र-निर्णय दोष से संयुक्त है। यह इस बात से सूचित होता है कि उक्त सन्दर्भ में उन्होंने नागार्जुन की माँ को राजपुत्र रणसिंह की 'पत्नी' कहा है जो कि यथार्थतः पुत्री थी।

प्राचीन भारत में नागार्जुन नाम के तीन व्यक्ति हुए हैं —(१) शून्यवाद के प्रवर्तक और बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन—जो कुषाण राज-सभा में थे। (२) नागार्जुनसूरि (वाचक)— इन्होंने ३०३ ई० में दक्षिणापथ के जैन मुनियों को वलभी में एकत्र करके चौथी आगम-वाचना की। (३) राजपुत्र नागार्जुन (रसायनवेत्ता)—ये क्षत्रिय थे जो कालान्तर में रस-सिद्ध रसायनवेत्ता हो गये थे।

वस्तुतः प्रबन्धकोशागत राजपुत्र नागार्जुन का समय द्वितीय शताब्दी ई० से तृतीय शताब्दी ई० के बीच का ही है, क्योंकि प्रबन्ध-ग्रन्थ के आन्तरिक साक्ष्य इस कालावधि की पुष्टि करते हैं। राजपुत्र नागार्जुन निस्सन्देह पादलिप्त सूरि (द्वितीय शताब्दी ई०) का शिष्य था। शिष्य को तृतीय शताब्दी में ही रखना होगा, क्योंकि पादलिप्त-सूरि को दीर्घायु प्राप्त थी। इसके अतिरिक्त राजशेखर की इतिहास-लेखन शैली भी इस मत का अनुमोदन करती है। राजशेखर ने

---

१. सेडी या सेढी को श्वेतनदी (मध्य भारत) कहते हैं जो साबरमती से निकली है। दे० हिग्योलों, ३८८।

२. जिनविजय (सम्पा०) : प्रको, प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० १।

नागार्जुन का इतिवृत्त पाँचवें और अट्ठारहवें दो भिन्न-भिन्न प्रबन्धों में गूँथा है क्योंकि वह यह प्रमाणित करना चाहता है कि नागार्जुन पादलिप्त का शिष्य होते हुए भी सूरि-वर्ग में स्थान नहीं रखता है अपितु उसका वर्णन राज-वर्ग में ही अपेक्षित है। अतएव इतिहास-लेखन-शैली में उसने यह नवीनता स्फुरित की है कि एक ही व्यक्ति का इतिवृत्त दो भिन्न स्थलों पर भी उपर्युक्त रीति से लिखा जा सकता है और उसमें कालक्रमीय एकरूपता बनी रह सकती है।

१९. वत्सराजोदयन प्रबन्ध

उदयन के पिता का नाम शतानीक (द्वितीय) और माता का नाम मृगावती था। वत्स-जनपद के कौशाम्बी नगर में शतानीक राजा था जिसका पुत्र और उत्तराधिकारी उदयन था। उसका समकालीन उज्जयिनी का राजा चण्डप्रद्योत था।

क्रौञ्चहरण नगर[1] में नागराज वासुकि[1] की दिव्यरूपा युवापुत्री वसुदत्ति रहती थी। वासुकि ने वत्सराज-वसुदत्ति का विवाह सम्पन्न करा दिया। अब उदयन कौशाम्बी में पुनः शासन करने लगा।

उसने क्रमशः उज्जयिनी नरेश चण्डप्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता से तथा डाहल राजकुमारी पद्मावती से विवाह किया।

अन्त में, राजशेखर स्वीकार करता है कि उसका यह वृत्तान्त जैन-सम्मत नहीं है, क्योंकि नाग-जाति के साथ मानव का विवाह होना असम्भव है। उसके अनुसार यह वृत्तान्त नागमत[1] से उद्धृत है।

---

१. प्रको, पृ० ८६; वितीक (क्रौंचद्वीप) पृ० ८५; गौड़ लेखमाला (प्रथम, पृ० ९ व आगे) में एक क्रौञ्चश्वभ्र ग्राम का उल्लेख आता है। यह पुण्ड्रवर्धनभुक्ति (उत्तरी बंगाल) में स्थित था (इपि० इण्डि०, चतुर्थ, पृ० २४३ व आगे); हिज्योलॉ, पृ० २७३।

वत्सराज उदयन का वर्णन जैन, बौद्ध और संस्कृत तीनों साहित्यों में आता है। जैन-ग्रन्थों में प्रबन्धकोश के अलावा विविधतीर्थकल्प जैनसूत्रों और करिकण्डुचरिउ में वत्सराज का वर्णन है।

छठीं शताब्दी ई० पू० के उत्तरार्द्ध में वत्सराज उदयन का लगभग ६२ वर्षों का दीर्घकालिक शासन-काल (५४४ ई० पू०-४८२ ई० पू०) रहा।[1]

वत्सराज उदयन के पिता शतानीक (द्वितीय) कौशाम्बी के प्रसिद्ध चन्द्रवंशी राजा थे। प्रबन्धकोश में उदयन को ऋषभवंशीय कहा गया है। ऋषभदेव स्वयं चन्द्रवंश में ही उत्पन्न हुए थे। इसलिए उदयन का चन्द्रवंशीय होना स्वाभाविक है। पुराण और जैन-ग्रन्थ भी उदयन को शतानीक का पुत्र बतलाते हैं। राजा शतानीक परन्तप के बाद उसका पुत्र उदयन गद्दी पर बैठा।[2] चूंकि भास के नाटकों मे उदयन को वैदेहीपुत्र कहा गया है, इसलिए उदयन की माता विदेह राजकुमारी थी जिसका नाम अज्ञात है। किन्तु कथासरित्सागर और जैन-प्रबन्धों के अनुसार उसकी माता का नाम मृगावती था।[3]

अध्ययन काल में उदयन ने गज-वशीकरण विद्या, गान-विद्या, सर्प-विष-हरण विद्या और युद्ध-कला सीखी थी। गान-विद्या में निपुणता के कारण वह 'नाद-समुद्र' पदवी से विभूषित कलासक्त, धीर और ललित नायक कहा गया है। किन्तु बुद्ध की कौशाम्वी यात्रा के पश्चात् उसी पिण्डोल भारद्वाज ने उदयन को बौद्धधर्म में दीक्षित किया था। उदयन के धर्म-परिवर्तन के पश्चात् कौशाम्वी बुद्ध और उनके अनुयायियों का महत्वपूर्ण कार्य क्षेत्र वन गया।

---

१. घोष : अर्ली हिस्टरी ऑफ कौशाम्बी, पृ० ३३-३४।

२. रायचौधरी, हेमचन्द्र : प्रा० भा० रा० इ०, पृ० १५१; केवल कथासरित्सागर और वृहत्कथा-मञ्जरी उदयन को शतानीक का पौत्र बतलाते हैं। दे० जोशी, नीलकण्ठ : ना० प्र० पत्रिका, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २८।

३. भण्डारकर : कारमाइकेल लेक्चर्स, १९१८, पृ० ५८-५९; प्रको, पृ० ८६; वितीक, पृ० २३।

२०. लक्ष्मणसेन और मन्त्री कुमारदेव का प्रबन्ध

लक्ष्मणसेन, लक्षणावती का राजा था। उसके समान बुद्धिमान और पराक्रमी उसका मन्त्री कुमारदेव था। लक्ष्मणसेन का समकालीन राजा वाराणसी में जयन्तचन्द्र तथा उसका मन्त्री विद्याधर था।

लक्षणावती के दुर्भेद्य दुर्ग और विशाल सेना-समूह की चर्चा सुनकर जयन्तचन्द्र ने दुर्ग-विजय की प्रतिज्ञा की और लक्षणावती पर आक्रमण कर दिया। उसने दुर्ग के समीप शिविर लगा दिया। खाद्यान्न आदि वस्तुओं के अभाव से संकट उत्पन्न हो गया। अट्ठारह दिन बीत गये। लक्ष्मणसेन ने अपने मन्त्री कुमारदेव से कहा कि हम काशीपति को कर नहीं देंगे—युद्ध करेंगे। फलतः सभी सामन्तों और अमात्यों को सूचना दी गयी। पर कुमारदेव शत्रु जयन्तचन्द्र के बल को भाँप कर संशय में पड़ गया। वह शत्रु-शिविर में मन्त्री विद्याधर के पास पहुँचा। गुप्त मन्त्रणा हुई जिससे लक्ष्मणसेन को कर (अर्थदण्ड) न देना पड़े। उल्टे मन्त्री कुमारदेव की नीति के फलस्वरूप २६ लाख स्वर्ण मुद्राएँ लक्ष्मणसेन के राजकोष में आ गयीं।

लक्ष्मणसेन और मन्त्री कुमारदेव का प्रबन्ध राजशेखर के इतिहास-लेखन में एक नया मोड़ है। इस प्रबन्ध में वर्णित एक भी व्यक्ति जैन नहीं है। इस प्रकार साम्प्रदायिकता के संक्रामक रोग से प्रबन्धकार मुक्त हो जाता है। यों तो राजशेखर ने अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों पर वत्सराज उदयन प्रबन्ध में संकेत दे दिया था, परन्तु इस प्रबन्ध में पहली बार अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों का विवरण देते हुए राजशेखर ने राजवंशीय इतिवृत्त-प्रस्तुति का भी द्वार खोला। गहड़वाल राजवंश और सेन वंश में अनिर्णयात्मक युद्ध के बादल अट्ठारह दिनों तक मडराते रहे।

राजशेखर लक्ष्मणसेन की प्रशंसा करते हुए कहता है कि वह बड़ा प्रतापी और न्यायी राजा था जिसके पास विपुल राज्य और अपार सेना थी[1], पर उसकी साहित्यिक उपलब्धियों के विषय में प्रबन्धकार

---

१. लक्षणावती के दुर्भेद्य दुर्ग-विजय का जयन्तचन्द्र द्वारा संकल्प, राज्यारोहण के अवसर पर की गई हर्ष (९०६ ई०) के संकल्प का ओर

का मौन खलता है। संक्षेप में राजशेखर का यह प्रबन्ध असाम्प्रदायिक और राजवंशीय इतिहास की ओर एक नया कदम है।

२१. मदनवर्म प्रबन्ध

चौलुक्य-वंश के मूलराज (९४१-९६ ई०), चामुण्डराज (९९७-१००९ ई०), दुर्लभराज (१००९-२४ ई०) और भीम (प्रथम, १०२४-६४ ई०) के वंश में कर्णदेव (१०६५-९३ ई०) और मयणल्लादेवी का पुत्र जयसिंह सिद्धराज (१०९४-११४२ ई०) था जिसका विरुद् द्वादश रुद्र था। सिद्धराज मालवा की राजधानी धारा में १२ वर्षो से ससैन्य रहा। उसने मालवेन्द्र नरवर्मा (१०९४-११३३ ई०) को जीवित पकड़ कर काष्ठ-पिंजड़े में डाल दिया, क्योंकि नीति-वचन के अनुसार राजा अवध्य होता है।

तदनन्तर उसने दक्षिणापथ में महाराष्ट्र, तिलङ्ग, कर्णाट, पाण्ड्य आदि राष्ट्रों को जीता। परमार वंश के धूमकेतु सिद्धराज ने एक भद्रपुरुष से महोवक नगरी के परमार मदनवर्म (११२९-६३ ई०) की राजसभा की प्रशंसा सुनी जिसे नल, पुरुरवा और वत्सराज के समान गुणसम्पन्न वताया गया था।

भद्रपुरुप के वर्णन की पुष्टि करने के लिए सिद्धराज ने एक मन्त्री महोवक भेजा। लौटकर मन्त्री ने महोवक के वसन्त-महोत्सव का वर्णन किया। मदनवर्म रमणियों में रमण करता हुआ इन्द्र के समान बतलाया गया। ऐसा सुनकर सिद्धराज विशाल सेना सहित महोवक की ओर बढ़ा।

मदनवर्म ने सिद्धराज के लिए 'कवाड़ी' और 'वराक' जैसे अपमानजनक शब्दों का प्रयोग किया और सिद्धराज को सन्देश भिजवाया—"यदि नगरी व भूमि लेना चाहता है, तो युद्ध करेंगे। यदि धन से सन्तुष्ट होता है तो धन ग्रहण करें।"[1] सिद्धराज की ९६ कोटि स्वर्ण

खाद्यान्न आदि वस्तुओं के अभाव से उत्पन्न संकट, १९वीं शताब्दी के नेपोलियन महान् की महाद्वीपीय नीति का स्मरण कराते हैं।

१. यदि नः पुरं भुव च जिघृक्षसि, तदा युद्धं करिष्याम.। अथार्थेन तृप्यसि तदाऽर्थं गृहाणेति ॥ प्रको, पृ० ९२।

मुद्रा की माँग पूरी कर दी गयी। फिर भी वह न लौटा।

कतिपय पूर्ववर्ती प्रबन्धों में राजशेखर ने दिगम्बरों और अजैनों का इतिवृत्त प्रदान कर अपनी धर्मनिरपेक्षता का परिचय दे दिया है और इस प्रबन्ध में राजनीतिक इतिहास उपलब्ध कराकर इतिहास को एक नवीन दिशा दी है। मदनवर्म प्रबन्ध में राजशेखर सुगठित राजवंशीय इतिहास प्रदान करता है और उसके प्रबन्ध का स्वरूप विशुद्ध राजनीतिक हो जाता है। प्रस्तुत प्रबन्ध में राजशेखर ने दो घटनाओं और दो विरोधी व्यक्तित्वों के विषम चरित्रों का विश्लेषण किया है।

पहली घटना चौलुक्य-परमार युद्ध तथा दूसरी चौलुक्य-चन्देल संघर्ष है। राजशेखर के अनुसार सिद्धराज के समय में चालुक्य-परमार युद्ध १२ वर्षों तक चला। यशःपटह हाथी से सिद्धराज ने धारा दुर्ग की अर्गला तुड़वाकर सोमनाथ में लगवायी, जो राजशेखर के समय में भी लगी हुई थी। नरवर्मा परमार काष्ठ-पिंजड़े में डाल दिया गया। इस घटना की पुष्टि अन्य ग्रन्थों एवं अभिलेखों द्वारा होती है।[1] परन्तु चार तथ्य उभड़कर सामने आते हैं। प्रथम, राजशेखर ने मेरुतुङ्ग द्वारा प्रबन्धचिन्तामणि में की गयी गलती को सुधारा और सिद्धराज के समकालीन परमार नरेश का नाम यशोवर्मा (११३४-४२ ई०) न कहकर सही-सही नरवर्मा (१०९४-११३३ ई०) बतलाया। दूसरे, जयसिंह सूरि, जिनमण्डल तथा राजशेखर यह कहते हैं कि सिद्धराज ने नरवर्मा को मार कर उसकी खाल से अपनी कृपाण की खोल बनवाने की प्रतिज्ञा की थी।[2] किन्तु राजशेखर ने यह तथ्य प्रकाशित किया है कि नीति-वचन के अनुसार राजा अवध्य

---

१. सोमेश्वरकृत कीर्तिकौमुदी, द्वितीय, पृ० ३०-३२; सुरथोत्सव, १५वाँ, ३२; द्वयाश्रय काव्य, १४वाँ; वडनगर प्रशस्ति, एपि०, इण्डि०, जिल्द १, पृ० २९६, श्लोक ११; बालचन्द्रकृत वसन्तविलास, तृतीय, पृ० २१-२२; रासमाला, पृ० १११-११०; दोहद अभिलेख, इण्डि० एण्टि०, जिल्द १०, पृ० १५९, श्लोक।

२. कुमारपालभूपालचरित, प्रथम, ४१; कुमारपालप्रबन्ध, ७; प्रको, पृ० ९१; पाहिणाद, पृ० ११०।

होता है। अतः जयसिंह ने नरवर्मा का वध नहीं किया। तीसरे, युद्ध के १२ वर्षों तक चलते रहने से राजशेखर का आशय यह था कि संघर्ष लम्बा था। अन्तिम तथ्य यह है कि सिद्धराज की विजय (११३६-३७ ई० के आसपास) निश्चयात्मक रूप से हुई थी क्योंकि सिद्धराज सम्भवतः मालवा के सामरिक और आर्थिक महत्व को भली-भाँति समझ रहा होगा।

दूसरी घटना पहली की परिणति है। चौलुक्य राज्य में मालवा के सम्मिलित किये जाने के बाद चन्देल राज्य से संघर्ष होना अनिवार्य था, क्योंकि दोनों की सीमाएँ एक दूसरे से मिलती थी। चौलुक्य-चन्देल संघर्ष में कम से कम ३४ वर्षों तक शासन करने वाले सिद्धराज और वर्षों तक सत्तारूढ़ मदनवर्म का आमना-सामना होता है। राजशेखर के वर्णन से यह निश्चित है कि यह चौलुक्य-चन्देल संघर्ष अनिर्णायक रहा परन्तु यह भी ध्वनित होता है कि इन दोनों राजवंशों में सन्धि हो गयी। एक जैन-ग्रन्थ में इंगित है कि उस चौलुक्यराज को वहाँ से बिना किसी उपलब्धि के मदनवर्म से सन्धि कर लौट आना पड़ा।[1] लेकिन अभिलेखों में गूँजता है कि "क्षणमात्र में मदनवर्म ने वैसे ही गुर्जरनरेश को परास्त कर किया जैसे कृष्ण ने कंस को।"[2] इन विरोधी विवरणों में तालमेल नही है क्योंकि राजशेखर द्वारा प्रस्तुत मदनवर्म-सिद्धराज वार्तालाप से युद्ध की ध्वनि नहीं निकलती। यदि सिद्धराज ने चन्देल नरेश पर चढ़ाई की भी तो ९६ करोड़ स्वर्ण मुद्राओं के अलावा न तो विजय उसके हाथ लगी और न कोई निर्णय। अतः राजशेखर का यह संकेत कि अन्ततः दोनों में सन्धि हो गयी, यथार्थ के अधिक निकट प्रतीत होता है।

अन्त में दो विरोधी चरित्रों का मूल्यांकन शेष रह जाता है। यद्यपि राजशेखर ने तीन समकालिकों सिद्धराज, नरवर्मा और मदनवर्म का इतिवृत्त एक साथ एक ही प्रवन्ध में प्रदान किया है तथापि विविध

---

१. कुमारपालभूपालचरित, १.४२।

२. कालिंजर अभिलेख, ज० ए० सो० बंगाल, जि० १७, पृ० ३१८; चन्दवरदायी (इण्डि० एण्टि०, जिल्द ३७, पृ० १४४) तो यह उल्लेख करता है कि मदनवर्म ने सिद्धराज को हराया; पाहिनाड, पृ० ६७।

प्रकार के वाद्य-यन्त्रों, पक्षियों, उद्यान की रमणीयता और आनन्दोत्सवों का वर्णन करते हुए उसने दो मुख्य घटनाओं के अतिरिक्त दो विरोधी व्यक्तित्वों—मदनवर्म और सिद्धराज—के विषम चरित्रों को भी उजागर किया है। एक कामिनी प्रेमी है और दूसरा काञ्चन प्रेमी। एक अन्तरंग रास-रसिक है तो दूसरा बहि-र्भ्रमण करने वाला शूरवीर।

२२. रत्नश्रावक प्रबन्ध

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है १९३५ ई० में जिनविजय ने कश्मीर निवासी संघपति रत्नश्रावक की कथा को इतिहास के विचार से अज्ञात कहा था। रत्नश्रावक प्रबन्ध इस तथ्य का साक्षी है कि राजशेखरसूरि ने अपनी लेखनी उस प्रदेश के लिए भी उठायी जिसमें शैव-मत का प्रबल प्रचार था। वङ्कचूल की भाँति रत्नश्रावक का भी कल तक समीकरण नहीं किया जा सका था। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में सर्वप्रथम रत्नश्रावक से सम्बन्धित ऐतिहासिक तथ्य प्रदान करने के बाद नवहुल्लनगर, राजा नवहंस, रानी विजयादेवी की पहचान और नवहंस के कालक्रम, रत्नश्रावक व पट्टमहादेव की पहचान से सम्बन्धित बिन्दुओं को उठाया जायगा।

कश्मीर में नवहुल्लनगर का राजा नवहंस था और उसकी रानी विजयादेवी थी। उसी नगर में नगरश्रेष्ठी पूर्णचन्द्र के तीन पुत्र थे—रत्न, मदन और पूर्णसिंह। रत्न की पत्नी पउमिणि थी और पुत्र कोमल था। ये सब जैन थे।

नेमिनाथ-निर्वाण से आठ हजार वर्ष बीत चुके थे। उसी नवहुल्लपत्तन में पट्टमहादेव नामक अतिशय ज्ञानी रहते थे। उनके पास राजा, अन्तःपुरवासी और रत्न, मदन, पूर्णसिंह, श्रेष्ठिनी पउमिणि और पुत्र कोमल गये। गुरु ने उपदेश दिया और जिनालय-दर्शन व जिन-सेवा के सामान्य फल बतलाये। शत्रुञ्जय-सेवा, रैवतगिरि-सेवा और नेमि के दर्शन, स्पर्श और वन्दना से परम-पद की प्राप्ति होती है। फलतः रत्नश्रावक ने नेमियात्रा की प्रतिज्ञा की और पत्नी के साथ संघ में जा मिला।

वह संघ यात्रा के निमित्त चला। मार्ग में कालमूर्ति के प्रकट होने से संघ भयातुर हो गया। राजपुत्रों, संघ-प्रधान, भाइयों एवं पत्नी सभी की युक्तियों का निषेध कर, रत्नश्रावक ने स्वयं अपने को कालमूर्ति के लिए उत्सर्ग करने का निश्चय किया। कालपुरुष ने रत्न को जिस गुफा में फेंक दिया था उसमें कूष्माण्डी देवी के साथ सात क्षेत्रपति[1] गये। कालपुरुष को दण्डित करने के लिए ज्यों ही गुफा-द्वार का पत्थर हटाया गया, त्यों ही वहाँ शंकर की एक दिव्य-मूर्ति प्रत्यक्ष हुई, जो रत्नश्रावक की नेमि-वन्दना वाली प्रतिज्ञा की परीक्षा ले रही थी।

तदनन्तर रत्नश्रावक संघ के साथ रैवतक पर्वत पर चढ़ा। नेमि-नमन के बाद जब रत्न ने विम्ब को स्नान कराया तब विम्ब गल गया। रत्न ने उपवास और तपस्या की जिससे उसे एक प्रस्तर-विम्ब प्राप्त हुआ जिसे रत्न ने प्रतिष्ठापित कर दिया।

इसके उपरान्त रत्न अन्यान्य तीर्थों की वन्दना करके नवहुल्ल-पत्तन लौटा। रत्न द्वारा स्थापित नेमि-विम्ब आज भी वन्दनीय है।

बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कश्मीर प्रदेश में वंशानुगत संघर्ष, विद्रोह, षड्यन्त्र और रक्तपात हो रहे थे। उच्चल तथा सुस्सल के नेतृत्व में डामरों ने हर्ष को त्रस्त करना शुरू कर दिया था। सुस्सल का भिक्षाचर आदि के साथ गृह-युद्ध (१११२-२८ ई०) चलता रहा। भिक्षाचर ने पृथ्वीहर के साथ कश्मीर छोड़ दिया[2] और पुष्याणनाड ग्राम (वर्तमान पुंपिआण, राजौरी) की ओर बढ़ा। 'नाड' शब्द का संस्कृत में रूप 'नाल' होगा जो कालान्तर में 'नल्लह' (अर्थात् तलहटी) हो गया होगा।[3] परन्तु इस 'नल्लह' का नवहुल्लनगर से

---

१. राजशेखर ने प्रको, पृ० ९६ में इनके नाम गिनाये हैं — (१) कालमेघ (दे० प्रचि, पृ० १२३ व वितीक (कालमेह) पृ० ६, पृ० ५०), (२) मेघनाद, (३) गिरिविदारण, (४) कपाट, (५) सिंहनाद, (६) खोटिक एवं (७) रैवत।

२. राजतरंगिणी, ८. ९५९, पृ० ७५।

३. स्टाइन : कल्हण्स राज०, भाग १, पृ० ७५ तथा भाग २, पृ० ७५-७६ टि०।

कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रबन्धकोश का नवहुल्लनगर कश्मीर का आधुनिक नौशहरा है जो लगभग ३३° अक्षांश और ७४° देशान्तर पर स्थित है।[1] हल्ल या हल्लक उत्पल (कमल) का पर्यायवाची है जिसका अर्थ हुआ सुर्ख या अधिक लाल।[2] कश्मीर के इतिहास में उत्पल-वंश के बाद आने वाले लोहर-वंश को नवीन उत्पल-वंश के नाम से जाना गया। उत्पल और हल्लक पर्यायवाची है। इसलिए नवीन उत्पल-वंश के नगर का आशय नवहल्लक नगर हुआ जो नवहुल्लनगर से जाना जाता था। इस नगर का नाम लम्बा-चौड़ा था जो कालान्तर में संक्षिप्त होकर नवनगर या नऊनगर हो गया। नऊनगर का कल्हण ने दो बार उल्लेख किया है।[3] इस नऊनगर या नवनगर का नौशहर या नौशहरा हो जाना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि सल्तनत काल में देवगिरि का दौलताबाद हो जाना।

अब प्रश्न उठता है कि इस नवहुल्लनगर को किसने बसाया? कल्हण ने राजतरंगिणी के प्रथम से तृतीय तरङ्ग तक प्राय: १७ नगरों के निर्माण का वर्णन किया है। नगरों के लिए पुर तथा पत्तन समानार्थक शब्द हैं। परम्परा हिरण्याक्ष को हिरण्यपुर बसाने का श्रेय प्रदान करती है, जो आज सिंघघाटी रण्यिल में छोटा-सा स्थान श्रीनगर को जाने वाली सड़क के समीप है। कश्मीर में नगरों को बसाये जाने की परम्परा कुषाणकाल में स्पष्ट दीख पड़ती है। हुष्कपुर (बारामूला से २ मील = प्राय: ३.५ कि० मी० दूर आधुनिक उष्कूर गांव) जुष्कपुर और कनिष्कपुर नामक तीनों नगरों को क्रमश: कुषाण सम्राट् हुविष्क, जुष्क (वशिष्क) तथा कनिष्क (७८ ई०) ने बसाया

---

१. वही, भाग १, पृ० ९७ टि०। स्टाइन कहता है कि नऊनगर वितस्ता के बाएँ तट पर ३३° अक्षांश और ७५° देशान्तर पर स्थित है जो विजयेश्वर और श्रीनगर के मार्ग में पड़ता है।

२. "सुर्ख (अधिक लाल) उत्पल के दो नाम है — हल्लकम्, रक्तसन्ध्यकम् (+रक्तोत्पलम्) ११ अभिचि, अ० ४, श्लोक २३०, पृ० २८६।

३. सातवीं तरङ्ग, श्लो० ३५८, पृ २९७; आठवीं तरङ्ग, श्लोक ९९५, पृ० ७८, स्टाइन (भाग १, भूमिका, पृ० ३५) लिखता है कि कल्हण के भौगोलिक वर्णनों में शुद्धता है।

था। सातवाहन पुलुमावि द्वितीय (८६-११४ ई०) ने दक्षिण में एक नए शहर 'नवनगर' की स्थापना और 'नवनगरस्वामी' की उपाधि धारण की थी। दक्षिण के होयसल नरेश नरसिंह प्रथम (११४१-७३ ई०) के चार मुख्य सेनापतियों में हुल्ल सेनापति जैनधर्म का अनन्य भक्त था। हुल्ल ने श्रवणवेलगोल में चतुर्विंशति जिनालय का (सम्भवतः ११५९ ई० में) निर्माण तथा तीन जैन-केन्द्रों का जीर्णोद्धार कराया था।[1] कदाचित् हुल्ल सेनापति ने उत्तर में भी जिनालयों का निर्माण कराया था और उसी के नाम पर कश्मीर में एक नया नगर 'नवनगर' बसाया होगा जो 'नवहुल्लनगर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इसी नवीन उत्पल-वंश (लोहर-वंश) नवहुल्लनगर (नौशहरा) का राजा नवहंस था। प्रबन्धकोश में वर्णित इस राजा नवहंस का समीकरण कश्मीर के लोहरवंशीय राजा हर्ष (१०८९-११०१ ई०) से किया जाना चाहिये। राजशेखर को सातवीं शताब्दी के पुष्यभूति-वंशीय कन्नौजाधिपति हर्ष (६०६-४७ ई०) के विषय में ज्ञात रहा होगा। अतः कश्मीर के इस नये हर्ष के लिए उसने नवहंस शब्द प्रयुक्त किया।[2] उसके समय में नवहुल्लनगर (नौशहरा) का नगरश्रेष्ठी पूर्णचन्द्र था। पूर्णचन्द्र का पुत्र रत्नश्रावक राजा सुस्सल (१११२-२८ ई०) का समकालीन प्रतीत होता है।

कश्मीर के राजा नवहंस (हर्ष) की रानी विजयादेवी की पहचान विचारणीय है। कल्हण ने वर्तुल[3] (स्थान) की राजकुमारी बिज्जला का उल्लेख किया है जो हर्ष (नवहंस) के उत्तराधिकारी उच्चल (११०१-११ ई०) की रानी थी। परन्तु कल्हण चर्चा करता है कि हर्ष के शासनान्त ११०१ ई० में उसके राजमहल में आग लगा दी गयी थी। तब विनाश सन्निकट देखकर पटरानी वसन्तलेखा सहित

---

१. शास्त्री, कैलाशचन्द्र : दक्षिण भारत में जैनधर्म, वाराणसी, १९६७, पृ० १०८, पृ० ११९-१२०।

२. यह नवहर्ष का अपभ्रंश प्रतीत होता है। नवहर्ग से बिगड़कर नवहस्स और बाद में नवहस्स से विकृत होकर नवहंस हो सकता है।

३. वर्तुल स्थान का नाम है। भर्तुल के लिए दे० विक्रमाङ्कदेवचरित, अट्ठहरवा, पद ३८।

सत्रह रानियों ने आत्मदाह कर लिया।[1] कदाचित् कुछ रानियाँ बच गई जिनमें से विज्जलादेवी एक रही हों और उससे हर्ष के उत्तराधिकारी उच्चल ने विवाह किया हो। उच्चल की मृत्यु पर उसकी रानियाँ अपने को अग्नि में उत्सर्ग कर रही थीं।[2] चालाक रानी जयमती जीवित रहना चाहती थी परन्तु भाग्य की सतायी विज्जला उसके सामने आ गई और चिता पर चढ़ गई।[3] यही विज्जलादेवी विजयादेवी हो सकती हैं।

प्रबन्धकोश में एक आश्चर्यजनक उल्लेख है कि नेमि-निर्वाण के आठ हजार वर्ष बाद कश्मीर के नवहुल्लनगर (नौशहरा) में राजा नवहंस (हर्ष) हुआ। यह कालक्रम की दृष्टि से सही नहीं है। प्रबन्धकार को केवल यह कहना अभीष्ट था कि नेमि-निर्वाण के हजारों वर्ष बाद राजा नवहंस हुआ। नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) महाभारतकालीन कृष्ण के चचेरे भाई और यदुवंशी थे। महाभारत काल लगभग १५०० ई० पू० से १००० ई० पू० के बीच माना जाता है। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से यही काल २२वें तीर्थङ्कर नेमि का मानना उचित प्रतीत होता है। वस्तुतः कश्मीर का राजा नवहंस (हर्ष) नेमि-निर्वाण के प्रायः २१०० वर्ष बाद हुआ था। इसी तरह प्रबन्धकोश में कूष्माण्डी देवी और कालपुरुष के विवरण चमत्कारिक हैं जो सामान्य जैन श्रावकों में जैनधर्म का प्रभाव दर्शाने के लिये किए गये हैं।

रत्नश्रावक श्रेष्ठि पूर्णचन्द्र का पुत्र और राजा सुस्सल (१११२-२८ ई०) का समकालीन था। राजशेखर सूरि तथा मुहम्मद तुगलक के समकालीन इतिहासकार अरबी यात्री इब्नबतूता (१३०४-७८ ई०) ने रतन नामक एक हिन्दू का उल्लेख किया है, जो सुल्तान की सेवा में था। यात्री ने आर्थिक विषयों में इसकी बुद्धि की प्रशंसा की है।[4]

---

१. राजतरंगिणी, सातवीं तरङ्ग, श्लोक १५७९, पृ० ३९० ।

२. वही, आठवी तरङ्ग; श्लोक २८७, पृ० ९५ ।

३. वही, श्लो० ३०६ तथा ३६७, पृ० २६ तथा पृ० ३१ ।

४. ली, रेवरेण्ड सैमुएल : ट्रैवेल्स ऑफ इब्नबतूता, लन्दन, १८२९; ईश्वरी प्रसाद, पृ० २७५ टि०; इब्नबतूता की संक्षिप्त जीवनी के लिए दे० ईश्वरी प्रसाद, पृ० २८७-२८९ ।

देश और काल की दृष्टि से इब्नबतूता वाला 'रतन' प्रवन्धकोश क
रत्नश्रावक नहीं हो सकता है। राजतरंगिणी में 'रत्न' नामक
व्यक्तियों के दो स्थलों पर उल्लेख आते हैं।[1] एक रत्न नामक मन्
था तथा दूसरा 'रत्न' नामक एक सामान्य श्रावक था। मन्त्री र
राजा उत्पलापीड़ (८५५-५६ ई०) का सान्धिविग्रहिक था। उस सम
भी उसने विष्णु मन्दिर का निर्माण कराया था जो 'रत्नस्वामि
मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अतः कल्हण द्वारा उल्लिखित मन्
रत्न वैष्णव था।

राजशेखर ने जिस रत्नश्रावक का वर्णन किया है वह मन्त्री न
अपितु सुस्सल (१११२-२८ ई०) के शासनकाल का एक सामान
श्रावक था। रत्न जैसे विश्रुत व्यक्तियों ने भिक्षाचर (हर्ष के पौत्र
का पक्ष लिया। यह तर्क दिया जा सकता है कि राजशेखरसूरि क
रत्नश्रावक उत्पलापीड़ का मन्त्री रत्न था क्योंकि प्रवन्धकार
अन्तिम प्रवन्ध में जिन दो श्रावकों का वर्णन किया है, वे भी मन्त्री र
हैं। परन्तु यह समीकरण उचित नहीं प्रतीत होता है। एक तो उत्
लापीड़ का मन्त्री रत्न वैष्णव था और दूसरे उसका वर्णन चतुर्थ तरं
में आया है जिसके तिथि-क्रम उतने विश्वसनीय नहीं हैं जितने अष्ट
तरंग के तिथि-क्रम। परवर्ती घटनाओं के वर्णन में ऐतिहासिक सत
अधिक है। अतः प्रवन्धकोश का रत्नश्रावक सुस्सल (१११२-२८ ई०
कालीन सामान्य वर्ग का श्रावक था जिसका वर्णन कल्हण आठव
तरङ्ग में करता है। बहुत सम्भव है कि कश्मीर निवासी यह रत
शुरू में शैव रहा हो जो उस प्रदेश का बहु-प्रचलित धर्म था। प्रवन्
कोश के वर्णन से ज्ञात होता है कि रत्न को शंकर प्रत्यक्ष हुए जिन्हों
कालपुरुष से रत्नश्रावक की रक्षा कर उसका आलिंगन किया औ
तदुपरान्त उसे जैन-संघ में भेज दिया। फलतः वह प्रभावित हुआ
कालान्तर में रत्नश्रावक की तीर्थयात्रा उसकी जैनधर्म में आस्था क
प्रतीक बन जाती है।

---

१. राजतरंगिणी, चतुर्थ तरङ्ग, पद ७११, पृ० १८४ तथा अष्टम तरङ्ग
पद १०७९, पृ० ८५।

जैन परम्पराओं में पट्टमहादेव न तो कोई सूरि हैं और न जैनाचार्य। इनकी पहचान के लिए गुजरात का इतिहास टटोलना पड़ेगा। मुस्सल (१११२-२८ ई०) का समकालीन सिद्धराज (१०९४-११४४ ई०) था। उसके समय में सान्तू मन्त्री, मुञ्जाल, प्रधानमन्त्री दाड़क[1] और उसका पुत्र महादेव अधिक प्रसिद्ध थे। दाड़क के कहने से सिद्धराज ने शत्रुञ्जय की तीर्थयात्रा की थी। दाड़क का पुत्र महादेव सेना का अधिकारी था। ११४७ ई० की एक जैन प्रशस्ति से विदित होता है कि वह कुमारपाल (११४४-७४ ई०) का एक विश्वस्त मन्त्री बन गया, जिसे प्रबन्धकोश में अतिशय ज्ञानी कहा गया है।

महादेव को पट्टमहादेव इसीलिए कहा जाता था कि ११४७ ई० के पूर्व वह कुमारपाल की सेना का अधिकारी था। पट्टयाध्यक्ष के अधीन पदिक सेना रहती थी। जिस प्रकार दाड़क ने सिद्धराज को संघ यात्रा के लिए अभिप्रेरित किया, सम्भवतः उसी प्रकार पट्टमहादेव ने नौमहुरा के श्रेष्ठि रत्नश्रावक को भी तीर्थयात्रा के लिए उत्साहित किया हो। इस सम्भावना की पुष्टि प्रबन्धकोश के आन्तरिक साक्ष्य से होती है। प्रबन्धकोश में रत्नश्रावक के उल्लेख ग्रन्थारम्भ, 'रत्नश्रावक प्रबन्ध' तथा ग्रन्थ के अन्तिम प्रबन्ध 'वस्तुपाल प्रबन्ध' नामक तीन स्थलों पर मिलते हैं।[2] राजशेखर ने लिखा है — "तदनन्तर वर्द्धमानपुर के समीप बहुजन-मान्य श्रीमान् रत्न नामक श्रावक निवास करते हैं। उनके घर में दक्षिणावर्त शङ्ख की पूजा होती है जिससे उनके पास अपार लक्ष्मी है। कालान्तर में रत्नश्रावक ने वह शङ्ख वस्तुपाल के कर-कमलों में अर्पित कर दिया। उसका प्रभाव अनन्त है।"[3]

राजशेखर के इस इतिवृत्त से चार बातें स्पष्ट होती हैं —

(१) रत्नश्रावक न केवल मुस्सल (१११२-२८ ई०) का अपितु वस्तुपाल (जन्म १२वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध; निधन : १२३९ ई०) का भी समकालीन था।

---

१. जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह, पृ० १०१।

२. प्रको, पृ० २, पृ० ९३-९७, पृ० ११८।

३. वही, पृ० ११८, वढ़वान आधुनिक सुरेन्द्रनगर (गुजरात) है, जहाँ मेरुतुङ्ग ने १३०५ ई० में अपनी प्रबन्धचिन्तामणि पूर्ण की थी।

(२) राजशेखर ने वस्तुपाल प्रबन्धान्तर्गत रत्नश्रावक का वर्णन वर्तमान काल के वाक्यों में किया है जिससे यह टपकता है कि रत्नश्रावक मूलरूप से कश्मीर का स्थायी निवासी था किन्तु उस समय वह वर्द्धमानपुर के समीप अस्थायी निवास कर रहा था।

(३) जब रत्नश्रावक कश्मीर से गुजरात की ओर तीर्थयात्रा के लिए निकला होगा तब उसकी मुलाकात वर्द्धमानपुर में वस्तुपाल से हुई होगी।

(४) सम्बन्धित १३७ पैरा[1] की दस पंक्तियों में वस्तुपाल के नाम के साथ 'मन्त्री' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है, जिससे सिद्ध होता है कि दक्षिणावर्त शङ्ख के आदान-प्रदान के समय वस्तुपाल अल्प वय का रहा होगा और मन्त्री-पद पर भी प्रतिष्ठापित नहीं हुआ होगा। हाँ, रत्नश्रावक अवश्य वृद्ध हो चला होगा क्योंकि सुस्सल के शासनकाल (१११२-२८ ई०) में यदि वह जन्मा होगा तो ११९२ ई० तक वह प्रायः ८० वर्ष की वय पूर्ण कर चुका होगा, जिस तिथि को वस्तुपाल भी अपने पिता के साथ तीर्थयात्रा पर निकला था। अतः रत्नश्रावक और वस्तुपाल की भेंट सम्भवतः ११९२ ई० के आसपास हुई होगी जब रत्न वृद्ध और वस्तुपाल युवक रहे होंगे। इस प्रकार राजशेखर के रत्नश्रावक एवं सम्बन्धित प्रबन्ध की ऐतिहासिकता असन्दिग्ध है।

२३. आभड़ प्रबन्ध

आभड़ अणहिल्लपुर के श्रीमालवंशीय श्रेष्ठि नृपनाग और श्रेष्ठिनी सुन्दरी का पुत्र था। जब आभड़ दस वर्ष का था उसके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। फिर भी व्यवसायज्ञ आभड़ उन्नति करता गया। विवाह करने के बाद जीविका के लिए एक मणिकार के यहाँ पाँच लोप्टिक पर प्रतिदिन काम करने लगा। एक बार सिद्धराज (१०९४-११४२ ई०) के हाथ एक रत्न बेचकर वह धनवान् व्यवहारी (व्यापारी) हो गया।

कुमारपाल के समय (११४३-७२ ई०) में उसकी महान् वृद्धि

---

१. प्रको, पृ० ११४।

हुई। वह तीन प्रकार की बहियाँ रखता था।[१] आभड़ ने कुमारपाल को बतलाया कि राजकोष दो प्रकार के होते हैं—स्थावर और जंगम। जब कुमारपाल और हेमचन्द्र वृद्ध हो गए तब हेमसूरि के गच्छ में दो मत हो गए — (१) रामचन्द्र, गुणचन्द्र आदि समूह (२) बालचन्द्र का समूह। बालचन्द्र के साथ कुमारपाल के भतीजे अजयपाल की मैत्री थी।

उत्तराधिकारी बनाने के लिए कुमारपाल ने हेमचन्द्र और आभड से मन्त्रणा की। हेमचन्द्र का विचार था कि नाती प्रतापमल्ल को राजा बनाया जाय, क्योंकि भतीजे अजयपाल को राजपद पर आसीन करने से धर्म का क्षय होगा। आभड़ का मत था कि आत्मीय व्यक्ति ही उपकारी होता है।

मन्त्रणा को बालचन्द्र ने छिपकर सुन लिया। उसने अजयपाल से कह दिया। हेमचन्द्र के स्वर्ग सिधारने के ३२वें दिन अजयपाल ने कुमारपाल को विष देकर मार डाला।

अजयपाल (११७३-७६ ई०) ने राज्य में नृशंसता की। रामचन्द्र आदि को तप्त-लौह-यातना देकर मार डाला। विहार नष्ट किये। जैन साधुओं के सामने मृगया के अभ्यास, चैत्य-परिपाटी के उपहास आदि से अजयपाल ब्राह्मणों के भी चित्त से उतर गया। उसके बाद द्वितीय भीमदेव के शासन (११७८-१२४१ ई०) में आभड़ उसी प्रकार ऋद्धि प्राप्त करता रहा। आभड़ की मृत्यु के बाद उसके पुत्र उसकी निधियाँ न पा सके और वे चारों पुनः सामान्य वणिक् हो गये।

श्रेष्ठी आभड़ का वर्णन प्रबन्धकोश के अलावा प्रबन्धचिन्तामणि, पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह और कुमारपाल-चरित्र संग्रह में भी मिलता है। प्रबन्धकोशागत दो प्रबन्धों हेमसूरि प्रबन्ध और आभड़ प्रबन्ध में आभड़ और उससे सम्बन्धित राजाओं के इतिवृत्त प्राप्त होते हैं। श्रेष्ठि आभड़ और आम्बड़ को समकालीन होने के नाते एक ही समझने की भूल की जाती है। ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे, एक श्रेष्ठि व सामान्य श्रावक और दूसरा मन्त्री व सेनापति। आभड़ श्रावक

१. (१) रोकड़ बही, (२) विलम्ब बही और (३) परलोक बही।

नृपनाग श्रेष्ठि का पुत्र था और आम्वड़ उदयन मन्त्री का। राजशेखरसूरि के वर्णनों से प्रमाणित होता है कि जैन श्रावक आभड़ (श्रेष्ठि) सिद्धराज, कुमारपाल, अजयपाल, अजयपाल के उत्तराधिकारी (बाल मूलराज) और भीमदेव (द्वितीय) का समकालीन था।

आभड़ श्रेष्ठि के राजनीतिक प्रभाव का परिणाम यह हुआ कि कुमारपाल उससे महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार-विमर्श करता था। प्रवन्धचिन्तामणि और कुमारपाल-चरित में उल्लेख है कि कुमारपाल ने अपने उत्तराधिकार की समस्या पर केवल हेमचन्द्र से परामर्श लिया। कुमारपाल-प्रबन्ध में भी यही इतिवृत्त दुहराये गये हैं।[1] एक मुस्लिम ग्रन्थ में भी अजयपाल द्वारा विष देने के कुकृत्य का उल्लेख है।[2]

अजयपाल के पश्चात् उसका पुत्र और उत्तराधिकारी (द्वितीय) मूलराज (११७६-७८ ई०) चौलुक्य नरेश हुआ जो अल्पवयस्क था और जिसे लोग स्नेह से बाल-मूलराज पुकारते थे। उसकी संरक्षिका माता नाइकि देवी थी। बाल मूलराज ने तुरुष्कों को गाडरारघट्ट के युद्ध में निर्णयात्मक शिकस्त दी थी।[3] राजशेखर इस महत्त्वपूर्ण विजय पर मौन कैसे रह गया, समझ में नहीं आता।

इस प्रकार राजशेखरसूरि ने आभड़ प्रबन्ध के माध्यम से एक ओर आर्थिक व्यवस्था पर प्रकाश डाला है तो दूसरी ओर सिद्धराज, कुमारपाल, अजयपाल, अजयपाल के उत्तराधिकारी और भीमदेव (द्वितीय) के राजनीतिक इतिवृत्त प्रदान किये हैं। सिद्धराज और कुमारपाल जैसे प्रतिभाशाली राजाओं के बाद अजयपाल जैसे मूर्ख उत्तराधिकारी होने पर प्रत्यागमन का सिद्धान्त (Law of Regression) लागू होता है। सम्भवतः राजशेखर ने इसे सिद्ध कर दिया।

२४. श्रीवस्तुपाल प्रबन्ध

वस्तुपाल और तेजपाल पत्तन-निवासी और प्राग्वाट्-वंश के

१. जिनमण्डनगणिकृत कुमारपाल प्रबन्ध, पृ० ११३।

२. अबुल फजल : आइन-ए-अकबरी, द्वितीय, पृ० २६३।

३. दे० प्रचि०, पृ० ९७; प्रचिद्वि, पृ० ११९।

ठक्कुर चण्ड के वंशज थे। इनके पिता का नाम आसराज और माता का कुमारदेवी था। ये चार भाई थे। मालदेव व लूणिग अल्पायु में दिवंगत हो गये। वस्तुपाल की पत्नी ललिता देवी थी और तेजपाल की अनुपमा।

गुजरात में चापोत्कट-वंश (७५०-९५६ ई०) के बाद चालुक्यों ने (९६१-१२४१ ई०) शासन किया। इस समय (लगभग १२४३ई०) धवक्कल में पिता-पुत्र लवण प्रसाद और धवल थे जिन्होंने मन्त्रिद्वय के गुणों का बखान सुनकर उन्हें मन्त्रिपद पर नियुक्त किया।

इसके बाद वीरधवल ने वामनस्थली के युद्ध में साले साङ्गण और चामुण्डराज को पराजित किया। वीरधवल को भद्रेश्वर नदी के तटवर्ती द्वारपाल भीमसिंह से लड़ना पड़ा। तीन दिनों तक पञ्चग्राम का युद्ध होता रहा जिसमें वीरधवल का शरीर सैकड़ों घावों से जर्जर हो गया। भीमसिंह ने मन्त्रियों के परामर्श पर बन्दी वीरधवल के साथ उचित व्यवहार कर सन्धि कर ली।

महीतट प्रदेश वाले गोधिरा नगर[1] के घूघुल नामक अवज्ञाकारी मण्डलीक ने वीरधवल को अपमानित करने के लिये एक साड़ी और कज्जल की डिबिया भेजी। तेजपाल ने सेना के साथ योजनाबद्ध तरीके से प्रयाण किया। एक भाग वहीं स्थित किया, दूसरे का स्वयं नेतृत्व किया और तीसरे में सैनिक गतिशीलता गुप्तरूप से क्रियान्वित की। गोधिरा में भगदड़ मच गयी। तेजपाल और घूघुल के द्वन्द्व-युद्ध में घूघुल परास्त हुआ। बन्दी घूघुल को उसकी साड़ी और कज्जल की डिबिया प्रत्यर्पित कर दी गई। लज्जा के वशीभूत घूघुल का दुःखद अन्त हुआ।

---

१. दे० प्रको पृ० १०७; पुप्रस पृ० ६९; खरतर (गोधा) पृ० ८७ आधुनिक गोधरा (पंच महाल) बड़ौदा से लगभग ६० कि०मी० उत्तर-पूर्व में है। इस नगर का प्राचीन नाम गोधिरा या गोध्रा था जो गुजरात के महीतट प्रदेश में स्थित था और जहाँ वीरधवल का सामन्त घूघुल था। दे० रामाको तृतीय खण्ड, पृ० १२७, पृ० १३५, पृ० १५८; चागु, पृ० १५१, पृ० १५६; पाहिनाइजैसो, पृ० ३०५।

अब तेजपाल का युद्ध वड़ुआ वेलाकूल के स्वामी शंख से हुआ। शंख-माहेचक-द्वन्द्व-युद्ध में शंख गिरा दिया गया।

वर्द्धमानपुर के रत्नश्रावक ने एक दक्षिणावर्त शंख वस्तुपाल को अर्पित किया। वस्तुपाल ने शत्रुञ्जय की यात्रा तथा ऋषभ, विमल और नेमि की वन्दना की। रैवतक पर भी शत्रुञ्जय की भाँति दर्शन किये गये।

एक बार दिल्ली के मोजदीन की सेना गुजरात में प्रविष्ट हो गई। वस्तुपाल ने मण्डलीक धारावर्ष के पास सेना भेजी और आदेश दिया कि आबू पर्वत के बीच से आती हुई सेना को रोकना मत, अपितु उस घाटी को ही घेर लेना। ऐसा ही हुआ। फलतः यवन लोग मारे गये।

साधु पूनड़ ने शत्रुञ्जय की यात्रा १२१६ ई० में बम्बेरपुर से तथा १२२९ ई० में नागपुर से आरम्भ की थी। वस्तुपाल और पूनड़ ससंघ शत्रुञ्जय और रैवतक आदि तीर्थ गये।

एक बार मोजदीन सुल्तान की वृद्धा माता हज-यात्रा के लिए उत्सुक स्तम्भपुर आयी। वस्तुपाल ने निजी कोलिकों को भेजकर उसके जलयान में रखी वस्तुओं को लूट लिया। तदनन्तर मन्त्री ने इस दुर्घटना की अनभिज्ञता का स्वांग रचा, वृद्धा को घर ले आये और उसका सत्कार किया। वीरधवल की अनुमति से वस्तुपाल वृद्धा को पहुँचाने दिल्ली-तट तक गये। सुल्तान ने स्वर्ण प्रदान कर मन्त्री का स्वागत किया और मन्त्री ने उसे उपहार दिया। बातचीत के दौरान वस्तुपाल और मोजदीन सुल्तान के बीच आजीवन सन्धि का प्रस्ताव रखा गया था जो दोनों को मान्य हो गया। तत्पश्चात् वस्तुपाल ने लोकहित साधक कार्य किये।

तेजपाल ने अर्बुद शिखर पर मन्दिर निर्माणका कार्य शुरू किया। ७०० सूत्रधारों का प्रमुख शोभनदेव था और ऊदल को अधीक्षक नियुक्त किया गया। जब शोभनदेव ने निर्माण-कार्य में विलम्ब के कारण बतलाये तब अनुपमा देवी ने शीघ्रता के विविध उपायों को सुझाया। वस्तुपाल द्वारा पूछने पर यशोवीर ने चैत्य-वास्तु के गुण-दोष बतलाये। वस्तुपाल ने उन सातों वास्तुदोषों में संशोधन करने का निश्चय किया और वह धवलक्क लौट आये।

वीरधवल के दो पुत्र थे — वीरम और वीसल। राणक ने वीरम को दूरस्थ वीरमग्राम में नियुक्त कर दिया क्योंकि वीसल उनको प्रिय था। जब वीरधवल दिवंगत हुए तब वस्तुपाल ने वीसल को राणक-पद राज्यार्पित कर दिया। वस्तुपाल ने वीरम का वध करा डाला। इसके बाद वीसलदेव निष्कण्टक राज्य करने लगा। एक बार वीसलदेव दोनों मन्त्रियों को तुच्छ समझने लगा। राणक ने उन्हें उपप्रधान बनाकर उनके दिव्य-कोष का अपहरण कर लिया। पर कालान्तर में वीसलदेव ने वस्तुपाल की जो उपेक्षा की थी, उसे सुधारा।

तत्पश्चात् विक्रमादित्य से १२९८ वर्ष व्यतीत (१२४१ ई०) हो जाने पर वस्तुपाल ज्वर से पीड़ित हो गये और उनका शरीर शान्त हो गया। इसके बाद वस्तुपाल की पत्नी ललितादेवी १३०८ विक्रम वर्ष (१२५१ ई०) में तेजपाल, जयन्तसिंह और अनुपमा भी क्रमशः चल बसीं।

'गुरुमुख श्रुत' वस्तुपाल और तेजपाल दोनों ने ही अधिक संख्या में धर्मस्थान-निर्माण कराया। उन दोनों मन्त्रियों द्वारा कराये गये निर्माणों, जीर्णोद्धार, धन-व्यय, पूजन, तीर्थयात्राओं आदि के इतिवृत्त उत्तर में केदार पर्वत से लेकर दक्षिण में श्रीपर्वत तक और पश्चिम में प्रभास से लेकर पूर्व में वाराणसी तक सुनायी पड़ते हैं।

वस्तुपाल-प्रबन्ध में उल्लिखित बम्भेरपुर की पहचान बम्भेरा या भम्भेरा प्रदेश में प्राचीन नगर भम्भुरा से की जा सकती है जो करांची पाकिस्तान में पड़ता था।[१] प्रबन्धकोश की पी प्रति में इसे बिम्भेरपुर भी कहा गया है।[२] उस गाँव में कैडवा कणबी लोगों की बस्ती ज्यादा थी। आज यह लगभग २००-२५० घरों की बस्ती का गाँव है। चौलुक्यों और बाघेलों के समय में यहाँ पर अधिक बस्ती रही होगी। आज यहाँ चार शिव मन्दिर, दो मूर्तियाँ वीर की और एक हनुमानजी की भी हैं, जो भग्न हो रही हैं।

प्रभास तीर्थ काठियावाड़ के दक्षिण समुद्रतट पर अवस्थित है। इसे प्रभास-पाटन या सोमनाथ-पाटन कहते हैं। नहपान (११९-२४

---

१. रामाफो, द्वितीय खण्ड, पृ० १२० टि० ८।

२. प्रको, पृ० ११८ टि० १।

ई०) के समय के नासिक गुफा-अभिलेख में इसका वर्णन आता है। इस तीर्थ-स्थान की अर्जुन और बलराम ने यात्रा की थी।[1]

कथवते ने वस्तुपाल के जीवन और कार्यों का संक्षिप्त रेखाचित्र कीर्तिकौमुदी में और ब्यूलर ने सुकृतसंकीर्तन के विश्लेषणात्मक निबन्ध में प्रस्तुत किया है।[2] हाल ही में कतिपय विद्वानों ने इन मन्त्रिद्वय पर कार्य किये हैं।[3]

प्रबन्धचिन्तामणि, अन्य पुरातन प्रबन्धों एवं गुजराती रासों में स्पष्ट उल्लेख है कि वस्तुपाल-तेजपाल की माता कुमार देवी का आशराज के साथ पुनर्विवाह हुआ था।[4] किन्तु राजशेखर ने प्रबन्ध-कोश (१३४९ ई०) में तथा जिनहर्षगणि ने वस्तुपालचरित (१४४७ ई०) में इसका आभास भी नहीं दिया है। प्रतीत होता है कि राज-शेखर के समय में पुनर्विवाह सामाजिक दृष्टि से हेय समझा जाने लगा था।

लवण प्रसाद और वीरधवल के अनेक संघर्षों से प्रदर्शित होता है कि उनका संघर्ष अधिकतर भीम (द्वितीय) के पड़ोसी सामन्तों से ही हुआ। दभोई प्रशस्ति (१२५४ ई०) से विदित होता है कि वड़वन के समीप शत्रु से लवण प्रसाद का संघर्ष हुआ।[5]

वस्तुपाल और शंख (संग्राम सिंह) के बीच भयंकर युद्ध हुआ था

---

१. भागवतपुराण, दसवां ४५. ३८, ७८. १८, ७९. ९-२१, ८६. २; ग्यारहवां ६. ३५, ३०. ६, ३०. १०।

२. दे० सोमेश्वरकृत कीर्तिकौमुदी, बम्बई संस्कृत ग्रन्थमाला, सं० २५, १८८३ ई० तथा अरिसिंह विरचित सुकृतसंकीर्तन, इण्डि० एण्टी०, भाग ३१, १८८९ ई०, पृ० ४७७ व आगे।

३ दे० भोगीलाल ज० साण्डेसरा, मचसा, १९५९; शास्त्री, नेमिचन्द्र : भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान, द्वितीय खण्ड, वाराणसी, १९८३, पृ० १२१-१०३ तथा शास्त्री, कैलाशचन्द्र : जैसावृ-इति, पृ० ४३९।

४. जैसावृइति, भाग ६, पृ० ४१७।

५. इपि० इण्डि०, प्रथम, पृ० २६, पद १३।

जिसमें शंख की हार हुई थी। वसन्तविलास, हम्मीरमदमर्दन और प्रबन्धचिन्तामणि द्वारा राजशेखर के इस कथन की पुष्टि होती है।[1]

भीमसिंह और पञ्चग्राम के शासकों के साथ युद्ध का समर्थन भी जयसिंह सूरि कृत हम्मीरमदमर्दन से होता है।[1] राजशेखर भीम द्वितीय के शासन की कुछ ऐसी घटनाओं का वर्णन करता है जिन्हें किसी भी इतिहासकार ने वर्णित नहीं किया है।

तत्कालीन ग्रन्थ कीर्तिकौमुदी में[1] एक गोद्रह:नाथ का वर्णन आता है जिसने वीरधवल के विरुद्ध विद्रोह किया था। इसका समीकरण घूघुल से किया जा सकता है क्योंकि प्रबन्धकोश सूचित करता है कि घूघुल महीतट में गोध्रा का शासक था।

प्रबन्धकोशगत पहले मोजदीन का समीकरण इल्तुतमिश (१२१०-३५ ई०) से हो सकता है। उसका पूरा नाम था 'सुल्तान मुअज्जम-समशुद-दुनिया वउद्दीन अबुल मुजफ्फर इल्तुतमिश'। वह राजशेखर का प्रथम मोजदीन हो सकता है। राजशेखर के दूसरे मोजदीन की पहचान वृद्धा माता की हज यात्रा के समय इल्तुतमिश के पुत्र और रजिया (१२३६-४० ई०) के उत्तराधिकारी मुइज्जुद्दीन वहरामशाह (१२४०-४२ ई०) से की जा सकती है जो वस्तुपाल का समकालीन भी था और उस समय तक वीरधवल का निधन (१२३७ ई०) भी हो चुका था। इसी समय 'वहादुर तैर के नेतृत्व में मंगोल हिन्दुस्तान में आ धमके'।[1] अतः इस मुइज्जुद्दीन वहराम के दो वर्षों के अल्पकालीन और अप्रसिद्ध शासन में गुजरात अभियान की सम्भावना कम प्रतीत होती है।

वस्तुपाल और तेजपाल के लोक-हित-साधक कार्यों एवं सुकृत्यों की सूची उपर्युक्त प्रशस्तियों के अलावा उदयप्रभसूरिरचित प्रशस्ति-

---

१. गाक्षोरी, चतुर्थ सर्ग, पद २४; सप्तम सर्ग, ५; दशम सर्ग १.५; मधि, पृ० १०२।

लेख[1], जयसिंहसूरि कृत वस्तुपाल-तेजपाल प्रशस्ति और अरिसिंह विरचित सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी में भी आवद्ध है।[2] राजशेखर ने ग्रन्थ के परिशिष्ट में लिखा है कि इस समय गुजरात के प्रसिद्ध दानी वस्तुपाल ने वाराणसी में विश्वनाथ-पूजन के निमित्त एक लाख द्रव्य भेजा।[3]

वीरम की हत्या के वाद वीसलदेव ने नागड़ को प्रधानमन्त्री वनाकर वस्तुपाल-तेजपाल की लघुश्रीकरण विभाग पर पदावनति कर दी। राजशेखर का यह वर्णन सिद्ध करता है कि वीसलदेव अपने मन्त्रियों के प्रति अकृतज्ञ हो गया था। एक अन्य अवसर पर राणक ने सिंह मामा का पक्ष लिया। सोमेश्वर सूचित करता है कि उसने अपने मित्र वस्तुपाल को दो अवसरों पर — धन-अपहरण के समय और सिंह मामा की घटना के समय — वचाया था।[4] परन्तु समकालीन ग्रन्थ वसन्तविलास में इस तरह का कोई वर्णन नहीं है। केवल प्रवन्धकोश में ही यह उल्लेख है कि वीसलदेव ने दोनों भाइयों की मन्त्रित्व-शक्ति को कम किया था। राजशेखर का यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि प्रवन्धचिन्तामणि १२३८ ई० में वस्तुपाल द्वारा ही वीसलदेव को राजसिंहासन देने की वात कहती है और पुरातनप्रवन्धसंग्रह तेजपाल को "राजस्थापनाचार्य" घोषित करता है।[5] कम से कम यह तो निश्चित है कि वस्तुपाल के वाद तेजपाल विना व्यतिक्रम के महामात्य-पद पर १२४६ ई० तक रहा। परन्तु राजशेखर का यह कथन कि वस्तुपाल को नागड़ के पक्ष में निलम्बित (जिन्हें कालान्तर में पुनः-स्थापित) कर

---

१. महावीर जैन विद्यालय सुवर्णमहोत्सव ग्रन्थ में पृ० ३०३-३३० में प्रकाशित मुनि पुण्यविजय के लेख 'पुण्यश्लोक महामात्य वस्तुपालना अप्रसिद्ध शिलालेख तथा प्रशस्तिलेख' में प्रशस्तिलेखांक सं० २।

२. जिरको, पृ० ४४३, पृ० ३४५; यह गाओसी सं० १०, वड़ौदा, १९२० में हम्मीरमदमर्दन नाटक के परिशिष्ट में प्रकाशित है।

३. 'वाराणस्यां देवविश्वनाथपूजार्थं प्रहितद्रव्य ल० १।' प्रको, परिशिष्ट १, पृ० १३२।

४. कथवतः कीर्तिकौमुदी, वीसवाँ; वॉम्वे गजेटियर, प्रथम, एक, २०२।

५. प्रचि, पृ० १०४; पुप्रस, पृ० ६७।

दिया गया था, समीचीन नहीं प्रतीत होता है। इस सम्बन्ध में जिनहर्षगणि का मत कि तेजपाल के बाद नागड़ हुआ, यह सत्य के अधिक समीप प्रतीत होता है। नागड़ का प्रथम अभिलेखीय उल्लेख एक पाण्डुलिपि की ग्रन्थ-प्रशस्ति (१२५३ ई०) में होता है जिसमें उसे महामात्य श्री नागड़ पञ्चकुल कहा गया है। किन्तु दूसरी पाण्डुलिपि (१२५६ ई०) में महामात्य नागड़ को प्रभुतासम्पन्न बताया गया है।[1] इससे स्पष्ट है कि नागड़ ने वस्तुपाल-तेजपाल के दिवंगत होने के उपरान्त शक्ति प्राप्त किया था।

ए० के० मजुमदार ने राजशेखर को निकृष्टतम इतिवृत्तकार कहा है और वस्तुपाल-तेजपाल प्रबन्ध के कई दोष दर्शाये हैं[2] :

(१) राजशेखर को बाघेलों के प्रारम्भिक इतिहास का कम ज्ञान था और वह अर्णोराज को भीमद्वितीय का उत्तराधिकारी बना देता है।

(२) वह सोमेश्वर के विचारों का अनुकरण करता है।

(३) वह त्रिभुवनपाल को पूर्णतया विस्मृत कर जाता है।

(४) दिल्ली के सुरत्राण मोजदीन की सेना को वस्तुपाल ने जो शिकस्त दी, वह सन्देहास्पद है। राजशेखर वस्तुपाल का यश-वर्णन सत्य को दाँव पर लगा कर करता है। मजुमदार महोदय उदाहरण देते हुए कहते हैं कि मेरुतुङ्ग ने एक श्लोक तेजपाल के मुख से कहलवाया है जिसे राजशेखर उद्धृत करता है और कहता है कि वीरधवल के निधन के उपरान्त वस्तुपाल ने उस श्लोक को पढ़ा।

"आयान्ति यान्ति च परे ऋतवः क्रमेणः····।"[3]

---

१. पाटन-भण्डार की पाण्डुलिपियों का कैटलॉग, २१८, पृ० ३३, स० ४०। पोरबन्दर अभिलेख (१२५८ ई०) तथा काडि दान-पत्र (१२६० ई०) में भी नागड़ के उल्लेख हैं। दे० इण्डि० एण्टी०, पष्ठ, २१२।

२. चागु, पृ० १७१-१७२ तथा उसी में पूर्ववर्णित पृ० १५७-१५८, अग्रवर्णित, पृ० ४६२ टि० १२०।

३. प्रको (पृ० १२५ पद ३२७) में यह पद प्रचि (पृ० १०४ पद २१२) से उद्धृत किया गया है और जो पुप्रस (पृ० ६६ पद ११८) में भी प्राप्त है। ऋतुएँ क्रम से आती हैं और उसी क्रम से चली जाती हैं किन्तु

जहाँतक अर्णोराज का सवाल है राजशेखर ने अपने समूचे ग्रन्थ में उसका केवल एक बार उल्लेख किया है। राजशेखर सही है कि वह अर्णोराज चौलुक्यवंशीय था न कि चाहमानवंशीय। राजशेखर ने अर्णोराज को किसी का उत्तराधिकारी न कहा है और न बनाया है। प्रबन्धकोश में मूल से यह स्पष्ट है—"तदनु मूलराज-चामुण्डराज-वल्लभराज-दुर्लभराज-भीम-कर्ण-जयसिंहदेव-कुमारपाल-अजयपाललघु-भीम अर्णोराजैः चौलुक्यैः सनाथीकृतः।"[1]

'सनाथीकृतः' का तात्पर्य किसी भी सूरत में उत्तराधिकृत नहीं हो सकता है। 'सनाथीकृतः' का अर्थ हुआ कि इन चौलुक्यों ने (गुर्जरधरा को) सुरक्षा प्रदान की।[2] अतः राजशेखर की कालक्रमीय सटीकता की प्रशंसा करनी चाहिये। जिस तारतम्य से उसने इन चौलुक्यों का उल्लेख किया है वह कालक्रम की दृष्टि से सही है। मजुमदार ने दूसरी भूल यह की है कि वे अर्णोराज के निधन को भीम (द्वितीय) के शासनारम्भ में रखते हैं। परन्तु प्रबन्धचिन्तामणि के

यहाँ (क्रम का परित्याग करके) दो ऋतुओं का एक साथ आगमन हुआ है। वीरधवल वीर के बिना लोगों के दोनों नेत्रों में वर्षा और हृदय में ग्रीष्म ऋतु (विपरीत क्रम से) आ गयी। इस पद का प्रचिद्वि (पृ० १२९ पद २३२) में हिन्दी अनुवाद हजारी प्रसाद द्विवेदी उतना सुन्दर नहीं कर सके हैं जितना उनके पूर्व टॉनी ने प्रचिटा में किया है। टॉनी ने अंग्रेजी अनुवाद इस प्रकार किया है —

Other seasons come and go in succession,
But these two seasons have become perpetual.
Now that men are deprived of the hero
Viradhavala,
The rainy season in their two eyes, and in
Their heart the hot season of anguish.

किन्तु उक्त अंग्रेजी अनुवाद में भी टॉनी की पकड़ में 'विपरीत क्रम' की बात नहीं आ सकी है, जो प्रबन्धकारों को अभीष्ट थी।

१. प्रको, पृ० १०१।

२. अभिचि, ९६ टि० ७, पृ० ३६४ टि० ११; सड़ आप्टे, पृ० ५७० व पृ० ५८१।

अनुसार अर्णोराज ने कुमारपाल से भीम (द्वितीय) तक चौलुक्यों के सामन्त के रूप में शासन किया। मजुमदार के मत के विपरीत समकालिक वसन्तविलास में उल्लेख है कि अर्णोराज ने राजा के पक्ष में रहते हुए राज्य की रक्षा की।[1] अतः अर्णोराज को चौलुक्य कहना और उसके द्वारा गुजरात की सुरक्षा करने के कथन की पुष्टि हो जाती है। मजुमदार का यह कथन कि राजशेखर को बाघेलों के प्रारम्भिक इतिहास का कम ज्ञान था भ्रान्तिपूर्ण है। राजशेखर की इतिहासप्रियता और तथ्यों के प्रति ईमानदारी का प्रमाण उसका यह कथन है —

"ऐसा प्रबन्धचिन्तामणि से ज्ञात होता है। चर्वित-चर्वण करने से क्या लाभ ? कतिपय नवीन प्रबन्धों को प्रकाशित करता हूँ।"[2]

मजुमदार ने प्रबन्धकोश से उद्धरण दिया है—"अर्णोराज के बाद पहले लवण प्रसाद और बाद में वीरधवल राजे हुए।" किन्तु मूल में लिखा है—

"सम्प्रति युवां पिता-पुत्री लवणप्रसाद-वीरधवलौ स्तः।"[3] अर्थात् इस समय दोनों पिता-पुत्र, लवण प्रसाद और वीरधवल थे। यदि इसे पूर्वोक्त वाक्य के तारतम्य में पढ़ा जाय तो अर्थ निकलेगा कि सम्प्रति लवण प्रसाद और वीरधवल (गुर्जरधरा को) सुरक्षा प्रदान करने वाले थे।

मजुमदार साहब का तीसरा आरोप है कि राजशेखर त्रिभुवनपाल को पूर्णतया विस्मृत कर जाता है। किन्तु यदि मूल को पढ़ा जाय तो यह आरोप अनर्गल प्रतीत होगा। पूर्व-उद्धृत मूल पंक्ति में चौलुक्यों में राजशेखर ने केवल त्रिभुवनपाल का नहीं प्रत्युत् बालमूलराज का भी नाम नहीं दिया है। मूलराज द्वितीय (११७६-७८ ई०) का भी राजशेखर ने उल्लेख नहीं किया है। राजशेखर उनका नाम गिनाना

---

१. 'दिगन्तावनिमण्डलीकाः'''ररक्ष सामन्तवृत्तमर्णोराजस्मुत्तुखयां ध्वलाग-जन्मा।' वसन्तविलास, सर्ग तृतीय, पद ३७-३८।

२. प्रको, पृ० ४७।

३. वही, पृ० १०१।

चाहता था जिन्होंने गुर्जरधरा को सुरक्षित रखा। त्रिभुवन पाल ने चालुक्य राज्य खोया और स्वयं अप्रसिद्ध रहा। वह धर्म और साहित्य का पोषक भी नहीं था।

चौथे आरोप के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यह प्रथम मोजदीन सुरत्राण इल्तुतमिश हो सकता है। जिसने १२३४ ई० में भिलसा जीता, उज्जैन को लूटा और महाकाल मन्दिर की तोड़फोड़ की। सम्भवतः उसने गुजरात पर आक्रमण के लिए कोई छोटी टुकड़ी भेजी हो जिसका वस्तुपाल ने सफलतापूर्वक मुकाबला किया। राजशेखर ने यह नहीं कहा है कि उक्त श्लोक की रचना वस्तुपाल ने की। उसका कहना है कि वीरधवल के निधन के बाद वस्तुपाल ने उक्त श्लोक को पढ़ा। प्रबन्धचिन्तामणि और प्रबन्धकोश में श्लोक एक ही है और निधन के बाद पढ़ा जाता है। अन्तर इतना ही है कि प्रबन्धचिन्तामणि में तेजपाल के मुख से श्लोक कहलवाया गया है और प्रबन्धकोश में वस्तुपाल से। यह बहुत बड़ा दोष नहीं है।

इस प्रकार वस्तुपाल-प्रबन्ध का सूक्ष्म विवेचन करने पर राजशेखर पर लगे आरोपों का प्रक्षालन हो जाता है तथा प्रबन्धकोश के ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर राजशेखर के इतिहास-दर्शन का द्वार खुल जाता है।

अध्याय – ६

राजशेखर का इतिहास-दर्शन : स्रोत एवं साक्ष्य

प्रबन्धकोश के ऐतिहासिक तथ्यों एवं उनके मूल्यांकन के आलोक में राजशेखर के इतिहास-दर्शन पर प्रकाश डाला जा सकता है। सर्वप्रथम हम इतिहास, इतिवृत्त और इतिहास-दर्शन के अर्थ की विवेचना करेंगे।

'इति + ह + आस' इन तीन पृथक् शब्दों का संश्लिष्ट रूप है 'इतिहास' जिसका अर्थ होता है 'निश्चित रूप से ऐसा हुआ'। इस व्याख्या के अनुसार, अतीत के जिन वृत्तों के अस्तित्व को हम पूर्ण विश्वास के साथ प्रमाणित कर सकें उन्हें इतिहास की श्रेणी में रखा जा सकता है।[1] इस प्रकार अतीत के समाज को मनुष्य के लिए सुबोध बनाना और वर्तमान समाज पर उसकी पकड़ को और मजबूत करना, इतिहास का दुहरा कर्तव्य है। इसीलिए आधुनिक इतिहासकार इतिहास को वर्तमान और अतीत के बीच एक अनन्त वार्तालाप मानता है।[2] परन्तु इतिहासकार का कार्य न तो अतीत से प्यार है और न अतीत से स्वयं को मुक्त रखना है, अपितु अतीत को एक ऐसी कुञ्जी बनाना और हृदयंगम करना है जिससे वर्तमान समझ में आ जाय। अतीत के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान को जानने का आशय यह भी है कि वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में अतीत को भी जाना जाय।[3]

किन्तु इतिहास और इतिवृत्त में समकालिकता और विश्वसनीयता

---

१. मिश्र, गिरिजाशंकर प्रसाद : प्राचीन भारतीय इति० दर्शन तथा इति० लेखन, इतिहास स्वरूप एवं सिद्धान्त (सम्पा०) पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, जयपुर, १९७३, पृ० ४६; इसी व्याख्या का गलत उद्धरण दे० चौबे, झारखण्डे : इतिहास-दर्शन, वाराणसी, १९४८, पृ० २।

२. कार, ई० एच० : इतिहास क्या है, दिल्ली, १९७१, पृ० २१।

३. कोशाम्बी, डी० डी० : द कल्चर ऐण्ड सिविलाइजेशन ऑफ ऐंशियेंट इण्डिया, लन्दन, १९६५, पृ० १० व पृ० २४।

की दृष्टियों से अन्तर है। इतिवृत्त तथ्यों या घटनाओं की शृंखला की पुनर्गणना करते हुए भी इतिहास की अपेक्षा अधिक समसामयिक होते हैं, परन्तु इतिवृत्त इतिहास-लेखन के लिए महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इतिहास की तुलना में कम विश्वसनीय होते हैं। उदाहरणार्थ, प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन में बाण के हर्षचरित तथा कल्हणकृत राजतरङ्गिणी को विशिष्ट ऐतिहासिक स्वरूप के कारण इतिवृत्त के अन्तर्गत रखना चाहिए।[1] किन्तु मेरुतुङ्ग की प्रबन्धचिन्तामणि तथा राजशेखर का प्रबन्धकोश इतिवृत्त से बढ़कर इतिहास के ग्रन्थ है।

इतिहास-दर्शन[2] का अर्थ है इतिहास के तत्वों का ज्ञान। जब ऐतिहासिक ज्ञान में दार्शनिक तत्वों अर्थात् स्रोत, साक्ष्य, परम्परा, कारणत्व, कालक्रम आदि का समावेश हो जाता है तब हम इतिहास-दर्शन का स्वरूप देखते हैं। राजशेखरसूरि ने ऐतिहासिक-ज्ञान में दार्शनिक तत्व-ज्ञान का समावेश किया है। उसने अपने एक अन्य ग्रन्थ में कहा है कि "जैन-धर्म के अनुयायियों में मुख्य दो भेद हैं— श्वेताम्बर और दिगम्बर। क्रियाकाण्ड और आचार-व्यवहार-विषयक मतभेदों को एक ओर रखने पर, इन दोनों परम्पराओं का धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य प्रायः पूर्णतः समान है।"[3] यह कथन राजशेखर के ऐतिहासिक विश्लेषण का एक नमूना है।

---

१. मिश्र, गि० प्र०, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ६० ।

२. भारतीय 'दर्शन' के लिए अंग्रेजी शब्द 'फिलॉसफ़ी' (विद्यानुराग) उपयुक्त नहीं है। जो पदार्थ-तत्त्व का ज्ञान कराये वह दर्शन है। दृश्यते अनेन इति दर्शनम्—अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाय वह दर्शन है। दे० उपाध्याय, बलदेव : भारतीय दर्शन, वाराणसी, १९७१, पृ० ३ ।

३. 'शेषं श्वेताम्बरैस्तुल्यमाचारं दैवते गुरौ ।
श्वेताम्बरप्रणीतानि तर्कशास्त्राणि मन्वते ॥
स्याद्वादविद्याविद्योतात् प्रायः सा धर्मिका अमी ॥
राजशेखरसूरि : षड्दर्शनसमुच्चय, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला (१७), वाराणसी, श्लोक सं० २७ व २८; न्यायविजय आदि; जैन-दर्शन, श्री-हेमचन्द्राचार्य, जैन सभा, उत्तर गुजरात, १९६८, पृ० ७ में भी उद्धृत।

एक दृष्टि से वाल्तेयर (१६९४-१७७८ ई०) पाश्चात्य इतिहास-दर्शन का जनक माना जाता है, और हीगेल (१७७०-१८३१ ई०) इतिहासवाद का प्रवर्तक। परन्तु राजशेखर ने इन इतिहासकारों से शताब्दियों पूर्व इतिहास का विश्लेषणात्मक एवं वैज्ञानिक वर्णन करके अपने इतिहास-दर्शन का एक ढाँचा अवश्य खड़ा कर लिया था।

विश्लेषणात्मक इतिहास-दर्शन का अभिप्राय अतीत का आलोचनात्मक तथा सारांशयुक्त प्रस्तुतीकरण होता है। राजशेखर ने अपने इतिहास में आचार्यों, कवियों, राजाओं या श्रावकों का प्रभाव समाज के विकास में उसी काल और उसी सीमा तक परिमित किया जहाँ, जिस काल तक और जिस सीमा तक समाज ने उसे अङ्गीकार किया। इतिहास के दृष्टिकोण पर भी राजशेखर सामग्री को पूर्व और पर के क्रम में बाँधकर घटनाओं और उनकी शृङ्खला के कारणों और उनके परिणामों को सामने रखते हुए तथ्यों का उद्घाटन करता है। इस प्रकार इतिहास में वह वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रयोग करता है। इस परम्परा में इतिहासकार राजशेखर स्वयं घटनाओं के बीच में नहीं आ जाता, उनको वह अपनी सुविधा अथवा रुचि से नहीं रखता और न ही उनके प्रति पूर्वाग्रह के वशीभूत हो उनके रूप बदलने की वह चेष्टा करता है।

राजशेखर प्रबन्धकोश के प्रारम्भ में वन्दना करने के उपरान्त अत्यन्त विनीत शब्दों में गुरु का परिचय देता है तथा प्रबन्ध और चरित में अन्तर बतलाने के उपरान्त इस प्रबन्धकोश की योजना पर विशद् प्रकाश डालता है। प्रबन्धकार का अभिप्राय अतीत सम्बन्धी नवीन तथ्यों को प्रकाश में लाना तथा ज्ञान की सीमा को विस्तृत करना है। एक शोधकर्ता की भाँति राजशेखर का उद्देश्य नवीन तथ्यों की प्रस्तुति, उपलब्ध तथ्यों की नयी व्याख्या और तथ्यों का सिद्धान्ततः निरूपण है। तथ्यों के इसी सैद्धान्तिक निरूपण के समय राजशेखर का इतिहास-दर्शन उद्भूत होता है। राजशेखर ने अपने प्रबन्धकोश का प्रणयन अधिकांशतः गद्य में किया है। काव्य की अपेक्षा गद्य, इतिहास के अधिक समीप होता है। अतः गद्य में इतिहास-लेखन उसके इतिहास-दर्शन का महत्वपूर्ण पक्ष है।

पूर्व मध्ययुगीन भारत के सभी ऐतिहासिक ग्रन्थों को आधुनिक इतिहास-दर्शन के चौखट में सुस्थित करना समीचीन नहीं है। किन्तु राजशेखर के प्रबन्धकोश का अध्ययन इस रीति से किया जा सकता है क्योंकि वह इतिहास को साहित्य की परिधि से बाहर निकाल सकने में सफल रहा। राजशेखर ने अपने ज्ञान को तीन क्षेत्रों में विभाजित किया था, यथा— (१) साहित्य, (२) इतिहास और (३) दर्शन जिनमें कल्पना, स्मृति और बुद्धि का क्रमशः सन्तुलित उपयोग किया गया था। परन्तु उसने इतिहास को स्मृति के अलावा परम्पराओं, अनुश्रुतियों और चक्षुर्दर्शियों पर भी आधारित किया था। इस प्रकार राजशेखर ने इतिहास को साहित्य से पृथक् किया और उसे एक स्वतन्त्र शास्त्र का दर्जा प्रदान किया।

राजशेखर ने 'वृत्या', 'प्रागुक्तं वृत्त', 'ऐतिह्य', 'प्राचीन वृत्त', 'सत्यवार्ता' तथा 'पूर्ववृत्त' शब्दों के प्रयोग इतिहास के लिये किये हैं।[१] जो इतिहास नहीं है उनके लिये 'कथा' शब्द का प्रयोग किया है, जैसे उदयन-प्रबन्ध के अन्त में राजशेखर कहता है कि यह कथा जैन-सम्मत नहीं है।[२] इस प्रबन्धकार ने इतिहासकार के लिये 'पुराविदा स्थविरेण' शब्द प्रयुक्त किया है। वस्तुपाल प्रबन्ध में तो राजशेखर 'इतिहास-शास्त्रीय' शब्द तक प्रयुक्त करता है[३] जिससे यह सिद्ध होता है कि राजशेखर के लिए इतिहास एक स्वतन्त्र शास्त्र था।

उसने वह वृत्तान्त जैसा घटा था वैसा ही निवेदित किया। जिन वृत्तान्तों या घटनाओं के काल के बारे में राजशेखर पूर्णतः सुनिश्चित नहीं रहता था, उनके लिये 'बहुकालो गतः' कहकर काम चला लेता था। राजशेखर ने इतिहास से सम्बन्धित अपनी अवधारणा को वस्तु-पाल-प्रबन्ध में मूर्तरूप प्रदान किया है। वस्तुपाल-प्रबन्ध के प्रारम्भ

---

१. 'न नाम्ना मो वृत्या....' प्रको, पृ० १९; 'इत्युक्त्वा तस्य प्रागुक्तं वृत्तं सकलमावेदयत्', वही, पृ० ६९; 'तावद्देव्याः प्राचीनं वृत्तमाकर्ण्य', वही, पृ० ७७, पृ० ७८, पृ० ९६; 'एकदा वृद्धेभ्यः श्रुतमैतिह्यम्', वही, पृ० १२१।

२. 'इयं च कथा जैनानां न सम्मता....', वही पृ० ८८।

३. वही, पृ० ७६, पृ० ११३।

में वह कहता है कि यहाँ पर मन्त्रिद्वय के 'कीर्तनों' की गणना की जायगी।[1] यहाँ पर 'कीर्तन' शब्द का प्रयोग इतिवृत्त के अर्थ में किया गया है। 'कीर्तन' का एक अर्थ होता है मन्दिर और दूसरा अर्थ होता है इतिवृत्त प्रस्तुत करना या वृत्तान्त कहना। स्वयं राजशेखर ने प्रवन्धकोश के अन्त में 'कीर्त्तनानि' शब्द के वाद 'श्रूयन्ते' प्रयोग किया है जिससे राजशेखर की यह भावना प्रकट होती है कि वह इतिवृत्त सुनाना चाहता था।

इस प्रकार राजशेखरसूरि ने इतिहास की एक सुस्पष्ट अवधारणा वना ली थी। उसने इतिहास-लेखन को एक पृथक् शास्त्र मानते हुए अपना इतिहास-दर्शन स्रोतों, साक्ष्यों, परम्पराओं, कारणत्व एवं कालक्रम पर आधारित किया। उसने स्थान-स्थान पर स्रोत-ग्रन्थों का यथेष्ट उपयोग किया है और उनमें से अनेक के उद्धरण भी दिये हैं। फिर उसने प्रवन्धकोश को तिथियों एवं कालक्रम से जैसा गुम्फित कर दिया है उससे यह प्रतीत होता है कि राजशेखर को इतिहास की सच्ची पकड़ थी क्योंकि उसने जैनाचार्यों अथवा चौलुक्य राजाओं के वर्णन क्रमानुसार किये हैं। इसी कारण उसने तिथि-क्रम की भी आवश्यकता महसूस की क्योंकि तिथि इस क्रम को बनाये रखने के अतिरिक्त घटना को काल से बाँधकर उसकी परिस्थितियों को समझने में भी सहायक होती है। इस प्रकार भारतीय इतिहास-लेखन के सम्बन्ध में अल्बीरूनी द्वारा लगाये गये तिक्त आरोपों[2] का सटीक प्रत्युत्तर राजशेखरसूरि ने प्रवन्धकोश की रचना करके दिया।

इस अध्याय में इतिहास-दर्शन के प्रमुख तत्वों के आधार पर प्रवन्धकोश के स्रोतों और साक्ष्यों का तथा अगले अध्याय में कारणत्व, परम्परा, कालक्रम आदि का विवेचन किया जायगा।

---

१. "कीर्त्तनसंख्या तयोर्ब्रूमः", वही, पृ० १०१।

२. अल्बीरूनी (सचऊ : २.१०) का आरोप है कि "हिन्दू लोग घटनाओं के ऐतिहासिक क्रम की ओर अधिक ध्यान नहीं देते। वे राजाओं के कालक्रमीय वंश-क्रम देने में अत्यन्त असावधानी से काम लेते हैं और जब कभी सूचना देने के लिये उन पर दबाव डाला जाता है तो किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर कथाएँ कहना आरम्भ कर देते हैं।"

स्रोत

इतिहास-लेखन में स्मृति और स्रोत आवश्यक उपकरण हैं। ये स्रोत इतिहासकार के लिए पवित्र होते हैं। उसे उनमें परिवर्तन, संशोधन, परिवर्द्धन या खण्डन नहीं करना चाहिए। स्रोत गल्प भी हो सकते हैं और दूषित भी। इतिहासकार आलोचनात्मक व रचनात्मक तरीकों से अपने स्रोतों से परे भी जा सकता है।[१]

राजशेखर अपने स्रोतों के विषय में सजग है और कहता है कि उसने गुरुमुख से सुने हुए चौबीस प्रबन्धों का संग्रह किया है।[२] प्रबन्धकोश की रचना (१३४९ ई०) के पूर्व गद्य-पद्य में रचित प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश में अनेक ग्रन्थ विद्यमान थे। राजशेखर ने उन ग्रन्थों में से अपनी रुचि के अनुकूल विषयों का चयन करके सरल संस्कृत में अपना गद्य-प्रधान ग्रन्थ रचा।

उपलब्ध स्रोतों की अधिकता से इतिहास-लेखन में व्यवधान उत्पन्न हो सकता है।[३] किन्तु राजशेखर ने चयन-प्रणाली द्वारा इस बाधापर विजय प्राप्त की थी। जिस प्रकार वैदिक-दर्शन व इतिहास में वेदों को अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है उसी प्रकार जैन इतिहास और दर्शन में आगम ग्रन्थों को प्रमाणभूत माना जाता है। जैनों में किसी रचना की ग्रन्थों की श्रेणी में गणना तभी होती है जब वह आगम ग्रन्थों का अनुसरण करे। अतः राजशेखर का प्राथमिक स्रोत आगम-ज्ञान रहा जो उसने चिरकाल से चली आ रही परम्परा द्वारा ग्रहण किया होगा।

हरिभद्र के ग्रन्थ, जैन लौकिक साहित्य, जैनचरित व प्रबन्ध एवं ब्राह्मण महाकाव्य व पुराण भी उसके स्रोत रहे होंगे। इन स्रोत-ग्रन्थों का उसने अपने प्रबन्धकोश में स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है।

---

१. कॉलिंगवुड, आर० जी० : द आइडिया ऑफ हिस्टरी, लन्दन, १९६१, पृ० २३५ व पृ० २४०।

२. "इदानी वयं गुरुमुखश्रुतानां विस्तीर्णानां रसाढ्यानां चतुर्विंशतेः प्रबन्धानां सङ्ग्रहं कुर्वाणाः स्म।" प्रको, पृ० १

३. ओमन, सर चार्ल्स : ऑन द राइटिङ्ग ऑफ हिस्टरी, लन्दन, १९३९, प्रस्ताव०, पृ० षष्ठ।

राजशेखर के स्रोतों के सम्बन्ध में, उपर्युक्त ग्रन्थों के अलावा कुछ का पृथक् वर्णन करना आवश्यक है। उदयप्रभसूरिकृत धर्माभ्युदय (संघपतिचरित्र) (१२२०-३० ई०) में १५ सर्ग हैं और ५२०० श्लोक प्रमाण हैं।[1] इस कथा-काव्य में महामात्य वस्तुपाल की संघयात्रा का प्रसंग बनाकर धर्म के अभ्युदय का सूचन करने वाली अनेक धार्मिक कथाओं का संग्रह है। ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखर ने वस्तुपाल-तेजपाल प्रबन्ध की रचना करते समय 'धर्माभ्युदय' काव्य से सामग्री अवश्य ग्रहण की होगी। जैन-प्रबन्धों में जिनभद्रकृत प्रबन्धावलि, प्रभाचन्द्रकृत प्रभावकचरित, मेरुतुङ्गविरचित प्रबन्धचिन्तामणि और जिनप्रभसूरिकृत विविध तीर्थकल्प तथा हेमचन्द्र के ग्रन्थों से प्रबन्धकोश में सामग्री ली गयी है। उसने कुछ जैन-प्रबन्धों में से तो अक्षरशः उद्धृत भी किया है, अन्य जैन-प्रबन्धों के प्राकृत प्रबन्धों को संस्कृत में अनूदित किया है और कुछ का गद्यीकरण तक किया है।

राजशेखर के इतिहास-दर्शन की यह विशेषता है कि वह कतिपय जैनेतर ग्रन्थों को भी अपना स्रोत बनाता है। उसने ब्राह्मण महाकाव्यों में रामायण व महाभारत से भी विषय-वस्तु ग्रहण की और शान्तिपर्व का तो वह नामोल्लेख भी करता है।[2] उसने रामायण की घटनाओं और पात्रों का वर्णन किया है। साथ ही साथ उसने 'महाजनो येन गतः स पन्था' वाली पंक्ति को महाभारत से उद्धृत भी किया है।[3] राजशेखर कहता है, 'दूसरी कथा में शान्तिपर्व में श्रीद्वैपायनोक्त भीष्म-युधिष्ठिर उपदेश प्राप्त होता है। द्वैपायनोक्त बत्तीस अधिकारों में इतिहासशास्त्रीय दृष्टि से अट्ठाईसवाँ अधिकार है मांस-परिहार। शिवपुराण में इसका वर्णन बीच-बीच में आया है।'[4]

---

१. जिरको, पृ० १९५; सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ४, मुनिचतुरविजय जी और पुण्यविजय जी द्वारा सम्पादित, बम्बई, १९४९।

२. द्रष्ट० प्रको, पृ० ११३ तथा पूर्ववर्णित अध्याय २, पृ० ५१।

३. प्रको, पृ० ६६, श्लोक १९४।

४. "कथान्तरे शान्तिपर्वणि श्रीद्वैपायनोक्तभीष्म-युधिष्ठिरोपदेशद्वारा मार्गं द्वैपायनोक्तद्वात्रिंशदधिकारमध्ये इतिहासशास्त्रीयाष्टाविंशाधिकारार्थं शिवपुराणमध्यगतं च मांसपरिहारं...", प्रको, पृ० ११३।

राजशेखर के उक्त कथन में इतिहास-दर्शन की दृष्टि से पाँच महत्त्वपूर्ण वाते हैं। एक तो उसने जैनेतर महाकाव्य का उल्लेख करके पूर्वाग्रह-विमुखता का परिचय दिया। दूसरे, महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म-युधिष्ठिर-संवाद के महत्त्व को आँकते हुए महाभारत के द्वैपायन (व्यास) का नाम बतलाया है। तीसरे, मांस-परिहार का सटीक सन्दर्भ प्रदान किया है, जो शान्तिपर्व के ३२ अधिकारों में २८ वाँ अधिकार है। चौथे, राजशेखर ने सम्बन्धित विषय में महाभारत और शिवपुराण जैसे स्रोतो का तुलनात्मक सन्दर्भ देने का प्रयास किया है। अन्ततः हमें राजशेखर की इतिहासशास्त्रीय दृष्टि का बोध भी होता है क्योंकि उसने 'इतिहासशास्त्रीय' शब्द भी प्रयुक्त किया है।

प्रबन्धकोश के कम से कम तीन स्थानों में श्रीमद्भगवद्गीता की झलक मिलती है। बप्पभट्टिसूरिप्रबन्ध में राजशेखर कहता है कि जीर्णमय शरीर छोड़कर मनुष्य नवीन शरीर पुनः प्राप्त करते हैं।[1] वस्तुपाल प्रबन्ध में कहा गया है कि रणस्थल में विजय पर लक्ष्मी प्राप्त होती है और मरने पर स्वर्ग। अतः इस विध्वंसनी शरीर की चिन्ता रणस्थल में मरण के लिए नहीं करनी चाहिए।[2] राजशेखर ने उसी प्रबन्ध में यह भी गीता से ग्रहण किया है कि युद्ध में जय हो अथवा मृत्यु हो, राजाओं का किसी प्रकार का तिरस्कार नहीं होता।[3]

अतः राजशेखर ने शिवपुराण, स्कन्दपुराण के प्रभासखण्ड, वाक्-

१. प्रको, पृ० ४५। तुलनीय —
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरो पराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
गीता, २.२२।

२. प्रको, पृ० १२७। तुलना कीजिये —
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः॥ गीता, २.३७।

३. प्रको, पृ० १०५। तुलना कीजिये —
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ गीता, २.३८।

पतिकृत गौड़वहो तथा महामहविजय, श्रीहर्ष विरचित खण्डनखण्ड-खाद्य तथा नैषध, गाथापञ्चकम्, श्रीधर रचित न्यायकन्दली, वात्स्यायनशास्त्र, वाराहसंहिता आदि महत्त्वपूर्ण अजैन ग्रन्थों को भी अपने इतिहास का साधन बनाया होगा। राजशेखर अपने स्रोतों के प्रति इतना ईमानदार था कि उसने प्रबन्धचिन्तामणि का तो नामोल्लेख किया ही है साथ ही साथ नैषध महाकाव्य के ११वें सर्ग के ६४वें पद को ससन्दर्भ उद्धृत किया है और काव्य की सर्ग तथा पद संख्या भी दी है।

इस प्रकार महत्त्वपूर्ण अंशों को उद्धृत करने की परम्परा इतिहासशास्त्र और इतिहासलेखन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जानी चाहिए क्योंकि यह विरचित ग्रन्थ की प्रामाणिकता असन्दिग्ध सिद्ध करती है। क्या एरियन और स्ट्रैबो ने मेगस्थनीज़ की 'इण्डिका' को उद्धृत नहीं किया है? इसी उद्धरण-परम्परा के फलस्वरूप ही 'इण्डिका' जीवित है। अतः राजशेखर इस उद्धरण-परम्परा का अनुगमन करके एक ओर पूर्व-ग्रन्थों को जीवित रखे हुए हैं और दूसरी ओर प्रबन्धकोश की विश्वसनीयता को द्विगुणित करते हैं।

इसके अलावा राजशेखर ने अपने गुरु तिलकसूरि से श्रुत-परम्परा को और अपने विद्यागुरु जिनप्रभसूरि के अधीन 'न्यायकन्दली' ग्रन्थ-अध्ययन एवं उपसम्पदा-ग्रहण को महत्त्वपूर्ण साधन बनाया होगा।

अतः यह सही है कि राजशेखर ने अपने प्रबन्धकोश की रचना में कुछ तो प्राचीन चरित-ग्रन्थों एवं प्रबन्ध-ग्रन्थों की सहायता ली[1] और कुछ परम्परा से चली आ रही मौखिक बातों का सहारा लिया। राजशेखर कहता है कि उसके सद्गुरु श्री तिलकसूरि ने समस्त कलाओं को उसके सामने निर्विघ्न उद्घाटित किया क्योंकि श्रुति-सागर से पार लगाने वाले कर्मठगुरु के समीप उस शिष्य ने विनयपूर्वक एवं विधिवत् अध्ययन किया था।[2] इस तरह उसने दोनों प्रकार के स्रोतों

१. वस्तुः प्रायेण चरितैः प्रबन्धैश्च कायम्। वही, पृ० १।
२. "सूरिर्मे सद्गुरुः श्रीतिलक इतिकलाः स्फारयत्सविघ्नः...इह किल शिष्येण विनीतविनयेन श्रुतजलधिपारङ्गमस्य क्रियापरस्य गुरोः समीपे विधिना सर्वमध्येतव्यम्।" वही, पृ० १।

की परस्पर तुलना की है।

राजशेखर को अपने स्रोतों में कहीं-कहीं भिन्न भाव मालूम हुआ है। इस भिन्न भाव के निराकरण का उसके पास न तो कोई साधन था और न उसको उसके निराकरण की कोई आवश्यकता ही थी। उसने केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझा कि विद्वान् जैन इसे संगत नहीं मानते हैं।[1] राजशेखर की दृष्टि में कुछ ऐतिहासिक तथ्य जैनों से असंगत होते हुए भी उसके द्वारा संकलित और सुसम्प्रदाय द्वारा प्राप्त हुए हैं क्योंकि उसकी दृष्टि में वे तथ्य उचित थे। वत्सराज उदयन की 'यह कथा जैनों को सम्मत नहीं है क्योंकि इसमें जो देव-जातीय नागकन्या के साथ मनुष्य का विवाह-सम्बन्ध होना बतलाया गया है, वह असम्भव है। केवल सभा में कहने लायक विनोदात्मक होने से हमने 'नागमत' (पुराण) से इस कथा को उद्धृत किया है।[2] इस प्रकार राजशेखर अपने स्रोतों के प्रति ईमानदार था।

उपर्युक्त अध्ययन में राजशेखर का इतिहास-दर्शन अनुस्यूत है। उसके स्रोतों की व्यापकता इससे सिद्ध होती है कि उसने संस्कृत और प्राकृत ग्रन्थों को, आगम और लौकिक साहित्य को, गुरुओं को, लेख और परम्पराओं को तथा जैन और जैनेतर साधनों को अपना स्रोत मानने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं महसूस की। यहाँ तक कि उसने विज्ञप्तिपत्र, यमल-पत्र और ग्रहण-प्रस्ताव के भी उल्लेख किये हैं। अतः जिस तरह और जिस भावना से राजशेखर ने अपने स्रोतों का उपयोग किया है, उससे वह इतिहासकार कहलाने का अधिकारी हो जाता है।

साक्ष्य

राजशेखर के इतिहास-दर्शन में स्रोतों का अध्ययन कर लेने के बाद साक्ष्यों का अध्ययन करना आवश्यक है। साक्ष्य किसी घटना का प्रामाणिक ज्ञान प्रदान करते हैं। इतिहासकार के लिए साक्ष्यों का

---

१. "यन्नासङ्गतवागजनो जैन।" प्रको, पृ० ७४।

२. "इयं च कथा जैनानां न सम्मता, देवजातीयैर्नागैः सह मानवानां विवाहासम्भवतः। विनोदिमभार्हेति नागमतादुद्धृत्यात्रोक्ता।"
वही, पृ० ८८।

महत्त्व उतना ही है जितना किसी गुप्तचर (डिटेक्टिव) अथवा किसी अधिवक्ता के लिए है, जिनको अपने तथ्यों को स्थापित करने के लिए साक्ष्यों को एकत्र करना पड़ता है। अधिवक्ता अपने साक्ष्य के लिए जीवित व्यक्तियों को प्रस्तुत करता है जबकि इतिहासकार ग्रन्थों का प्रमाण प्रस्तुत करता है। अतः इतिहास में किसी व्यक्ति के कार्यों अथवा किसी घटना के घटित होने के सम्बन्ध में जो प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं, उन्हें साक्ष्य कहते हैं।

राजशेखर के साक्ष्यों को दो प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है —

(१) प्रबन्धकोश में साक्ष्य और

(२) प्रबन्धकोश के साक्ष्य।

'प्रबन्धकोश में साक्ष्य' वे प्रमाण हैं जिन्हें राजशेखर ने अन्य ग्रन्थों से अपने ग्रन्थ में दिये हैं। 'प्रबन्धकोश के साक्ष्य' उसके वे उद्धरण या अंश हैं जिन्हें अन्य ग्रन्थकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में प्रयुक्त किये हैं। अतएव पहले प्रकार के साक्ष्य प्रबन्धकोश के पूर्ववर्ती ग्रन्थों से सम्बन्धित हैं तथा दूसरे प्रकार के साक्ष्य प्रबन्धकोश के परवर्ती ग्रन्थों से। प्रबन्धकोश के दूसरे प्रकार के साक्ष्य के रूप में सर्वप्रथम मान्यता प्रदान करने वाले ग्रन्थों में कुमारपालचरित्र[1] का नाम आता है। अपनी पूर्ववर्ती कृतियों का उपयोग करने में अभ्यस्त जिनमण्डन ने अपने महत्त्व के ग्रन्थ कुमारपालचरित्र में प्रबन्धकोश का सर्वप्रथम प्रयोग किया है, यद्यपि जिनमण्डन ने राजशेखर का नामोल्लेख नहीं किया है। अतः कुमारपालचरित्र में प्रबन्धकोश के साक्ष्य पाये जाते हैं।[2]

हेमचन्द्र के बाल्य-जीवन के सम्बन्ध में कुमारपालचरित्र के रचयिता ने तो प्रबन्धकोश के तत्सम्बन्धी वृत्तान्त[3] को खूब सजाकर

१. दे० जिनमण्डनकृत कुमारपालचरित्र, पृ० २५ जिसमें प्रको, पृ० ४७ के पैरा ५५-५६ को उद्धृत किया गया है। इसे कुमारपाल प्रबन्ध भी कहा गया है।

२. प्रको, पृ० ४७, पैरा ५५-५६ का साक्ष्य, दे० उक्त कुमारपालचरित्र में।

३. प्रको, पृ० १८।

अपने ही ढंग से कहा है और ऐसा करते हुए परस्पर विरोधी बातों की तनिक भी परवाह नही की है।[1] उत्तराधिकार के सम्बन्ध में हेमचन्द्र, कुमारपाल और आभड़ के बीच मन्त्रणा हुई। बालचन्द्र द्वारा अजयपाल का कान भरा गया था तथा हेमचन्द्र के स्वर्गारोहण के ३२वें दिन अजयपाल ने कुमारपाल को विष देकर मार डाला। राजशेखर के इन वृत्तान्तों को जिनमण्डनगणि और अबुल फज़ल ने भी लिपिबद्ध किया है।[2]

पुरातनप्रबन्धसंग्रह में कई प्रकरण अत्यन्त पुरातन हैं। कुछ प्रकरण ऐसे हैं जो प्रबन्धकोश में हैं। इनकी छानबीन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कम से कम तीन प्रबन्धों (पादलिप्ताचार्य-प्रबन्ध, रत्नश्रावक-प्रबन्ध और वस्तुपाल-प्रबन्ध) को राजशेखर के प्रबन्धकोश से ग्रहण किया गया है।

राजशेखर के प्रबन्धकोश की प्रसिद्धि इतनी अधिक थी कि पुरातनप्रबन्धसंग्रह के उक्त तीन प्रबन्धों में से 'रत्नश्रावक-प्रबन्ध' में ग्रन्थकार ने प्रबन्ध के अन्त में स्पष्ट लिख भी दिया है कि उक्त रत्नश्रावक-प्रबन्ध को हमने लिखकर समाप्त किया जो मलधारीगच्छीय श्रीराजशेखरसूरि द्वारा विरचित है।[3]

अज्ञातकर्तृक कुमारपालदेवचरित, सोमतिलककृत कुमारपालदेवचरित, पुरातनाचार्य संगृहीत कुमारपालप्रबोध-प्रबन्ध, चतुरशीतिप्रबन्धान्तर्गत कुमारपालदेव-प्रबन्ध तथा सोमप्रभाचार्यकृत कुमारपालप्रतिबोध जैसे पाँचों ग्रन्थों ने कुमारपालचरित-संग्रह में प्रबन्धकोश को साक्ष्य मानकर उसके कई श्लोकों को उद्धृत किया है। प्रबन्धकोश के

---

१. दे० ब्युलर, हेमजी : पृ० १३।

२. कुमारपालप्रबन्ध (१४३६ ई०) पृ० ११३; आइन-ए-अकबरी, द्वितीय, पृ० २६३।

३. "रत्नश्रावकप्रबन्धो विसर्जितः (तः ९) श्री राजशेखरसूरिभिर्मलधारिगच्छीयैर्विरचितः।" विस्तृत विवेचन के लिए दे० जिनविजय : प्रास्ताविक वक्तव्य, पुप्रस, पृ० ४ व टि०, जहाँ पर जैन विद्वान् ने स्पष्ट रूप से कहा है कि पादलिप्ताचार्य-प्रबन्ध और रत्नश्रावक-प्रबन्ध, राजशेखरसूरि के प्रबन्धकोश से गृहीत हैं।

एक अत्यन्त प्रसिद्ध प्राकृत पद (१७/३६) को कुमारपालचरितसंग्रह में चार स्थानों में अक्षरशः उद्धृत किया गया है।[1] सोमतिलकसूरि ने भी प्रबन्धकोश को साक्ष्य माना है। सोमतिलकसूरिकृत 'कुमारपाल-चरित' के अन्तिम ५०० श्लोकों में कुमारपाल के राजकीय जीवन का वर्णन है जिसमे 'प्रबन्धकोश' में उपलब्ध सामग्री का सार दिया हुआ है।[2] प्रबन्धकोश में कुमारपाल से सम्बन्धित सामग्री हेमसूरि, हरिहर आभड़ और वस्तुपाल प्रबन्धों में प्राप्त होती है। इसके बाद शत्रुञ्जय, उज्ज्यन्त आदि की तीर्थयात्रा और सोमनाथ में कुमारपाल के साथ जाकर हेमचन्द्र द्वारा शिव-पूजा आदि पशु-वध निषेधाज्ञा का वर्णन कुमारपालचरित में मिलता है। अन्त में हेमचन्द्र के स्वर्गवास और उसके पश्चात् छः महीने में कुमारपाल के दिवंगत होने का भी उल्लेख सोमतिलकसूरि ने प्रबन्धकोश से ही लिया हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है।[3]

'कुमारपालप्रबोधप्रबन्ध' की रचना १४०७ ई० में प्रबन्धचिन्तामणि, प्रबन्धकोश आदि जैसे कतिपय पुरातन-प्रबन्धों के आधार पर की गई है। कुमारपालप्रबोधप्रबन्ध के लगभग प्रारम्भ में जो पद्य है, वह प्रबन्धकोश से शब्दशः उद्धृत किया गया है, जिसका भावार्थ यह है कि "गुजरात का यह राज्य वनराज प्रभृति राजा द्वारा जैन मन्त्र-समूह से स्थापित किया गया है। उसके साथ द्वेष करने वाले कभी प्रसन्न नहीं रह सकते।"[4] आगे प्रबन्धकोश का साक्ष्य मिलता है कि याचक, वंचक, व्याधि, पंचत्व और मर्मभापक ये पाँचों प्रायः योगियों

---

१. पुन्ने वाससहस्से सयंमि वरिसाण नवन वइकलिए।
   हेही कुमरनरिन्दो तुह विक्कमराय सारिच्छो॥
   दे० प्रको, पृ० १७/३६ तथा कुपाचस; पृ० ५/१३२, १९/१४८, ४७/३९।

२. मुनि जिनविजय (सम्पा०) किञ्चित प्रास्ताविक, कुपाप, पृ० ३।

३. कुपाच, पृ० २०-२१; पृ० ३३।

४. गूर्जराणामिदं राज्यं वनराजात् प्रभृत्यपि।
   स्थापितं जैनमन्त्रैस्तु तद्द्वेषी नैव नन्दति॥
   कुपाप, पृ० ३६, पद ६; प्रको, पृ० १२८, पद ११५।

के भी उद्वेग के कारण होते हैं।[1]

पुरातनाचार्य संगृहीत कुमारपालप्रबोध-प्रबन्ध में कम से कम दस श्लोकों को प्रबन्धकोश का साक्ष्य मानकर उद्धृत किया गया है जिनमें से दो श्लोकों का यहाँ वर्णन करना आवश्यक है क्योंकि ये नीति-परक हैं।[2] पहले श्लोक का भावार्थ है कि कटु-वाणी मत बोलो और दूसरे श्लोक का आशय है कि मन को स्थिर करो, क्योंकि चिन्ता करने से कुछ नहीं होता।

उक्त दोनों प्रबन्ध-ग्रन्थों में कहा गया है कि सूर्योदय श्लाघनीय है अन्य नक्षत्रों का उदय होने से ही क्या? उसके उदय होने पर न तेज टिकता है और न अन्धकार।[3] कुमारपालप्रबोध-प्रबन्ध में प्रबन्धकोश से यह पद्य भी ग्रहण किया गया है जिसमें कपर्दी ने भी चौलुक्य से कहा कि हेमचन्द्र के प्रभाव से शुद्ध हो जाना है।[4] आगे दोनों ग्रन्थों में स्त्रियों पर विश्वास न करने का परामर्श दिया गया है। एक स्थल पर कुमारपालप्रबोध-प्रबन्ध में तुकबन्दी का नियमोल्लंघन करके

---

१. याचको वञ्चको व्याधिः पञ्चत्वं मर्मभापकः।
योगिनामप्यमी पञ्च प्रायेणोद्वेगहेतवः॥
कुपाच, पृ० ५२, पद ६४; प्रको, पृ० ५६, पद्य १५७।

२. अये! भेकच्छेको भव भवतु ते कूपकुहरं,
शरण्यं दुर्मत्तः किमु रटसि वाचाट! कटुकम्?
पुरः सर्प्पो दर्प्पो विषमविषस्यूत्कारवदनो,
ललज्जिह्वो धावत्यहह भवती जिग्रसिषया॥
कुपाच, पृ० ९९, पद ४९८; प्रको, पृ० ५१, पद १४८।
कुमारपाल मत चिंत करि चिंतिउ किंपि न होई।
जिणि तुह रज्जु समोपियउं चिंतं करेसिई साई॥
कुपाच, पृ० ९९, पद ५००; प्रको, पृ० ५१, पद १५१।

३. रवेरेवोदयः श्लाघ्यः को न्येषानुदयाग्रहः।
न तमांसि न तेजांसि यस्मिन्नभ्युदिते सति॥
कुपाच, पृ० ५६, पद ८६; प्रको, पृ० ३६, पद १०७।

४. कुपाच, १०७/५२७; प्रको, ४९/१४६।

प्रबन्धकोश से एक पद्य उद्धृत किया गया है जिसका भावार्थ है कि साहस से कार्य करना चाहिये। कुमारपालप्रबोध-प्रबन्ध में प्रबन्धकोश का एक साक्ष्य और उद्धृत किया गया है जिसमें स्वयम्भू की स्तुति की गयी है।[1] अतः इन साक्ष्यों से प्रमाणित होता है कि प्रबन्धकोश की विद्वत्-समाज में मान्यता थी और उसे उद्धृत करना एक गौरव की बात थी, जो प्रबन्धकोश की ऐतिहासिकता और प्रामाणिकता को सिद्ध करती है।

चतुरशीतिप्रबन्धान्तर्गत आये हुए 'कुमारपालदेव-प्रबन्ध' में दो पद ऐसे हैं, जो प्रबन्धकोश से अक्षरशः उद्धृत हैं। प्रथम पद्य तो बहु-उद्धृत है जिसको प्रबन्धकोश से कुमारपालदेवचरित्र, सोमतिलककृत कुमारपालदेवचरित और कुमारपालप्रबोध-प्रबन्ध तथा सोमप्रभाचार्यकृत कुमारपाल-प्रतिबोध में भी उद्धृत किया जा चुका है। प्रबन्धकोश से उद्धृत द्वितीय पद्य में मधुर ध्वनि की प्राकृतिक महिमा का बखान किया गया है।[2]

सोमप्रभाचार्यकृत कुमारपाल-प्रतिबोध का भी एक प्राकृत पद ऐसा है, जो प्रबन्धकोश से शब्दशः अवतरित किया गया है जिसका तात्पर्य है कि हे माता! तेरी अपुष्पित पुत्री का पुष्पदन्त पति है। मैंने उसे कड़ा प्रमाण नवीन साली (धान्य) की काँजी दी है।[3]

रत्नमन्दिरगणि ने भोज-प्रबन्ध (१४६० ई०) की रचना में प्रबन्धकोश से सहायता ली होगी, क्योंकि रत्नमन्दिरगणि कृत उपदेश-तरंगिणी (१४६२ ई०) में प्रबन्धकोश का साक्ष्य पाया जाता है। रत्नमन्दिरगणि ने वस्तुपाल की प्रशंसा करते हुए प्रबन्धकोश के उस श्लोक को उद्धृत किया है जिसका भावार्थ है कि आज इस वन से कोई कल्पवृक्ष का हरण कर रहा है।[4]

१. कुपाच, पृ० ६६; प्रको, पृ० ५०; कुपाच, पृ० ९९, प्रको, पृ० ५१; कुपाप्र, पृ० १४, प्रको, पृ० १८।
२. कुपाच, पृ० ११२-११३, पद ५; प्रको, पृ० १७, पद ३६; कुपाप्र, पृ० ११४-११७; प्रको, पृ० ६३, पद ८१।
३. कुपाच, पृ० १२४, पद २२; प्रको, पृ० १२, पद १८।
४. प्रको, पृ० २९, श्लोक १६८ तथा उपदेशतरंगिणी, पृ० ७६।

के उपाख्यान दिये हुए हैं। सम्भवतः इन ग्रन्थकारों ने भी प्रबन्धकोश से सहायता ली थी।

१५२५ ई० में सहजसुन्दर ने रत्नश्रावक-प्रबन्ध की रचना की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि सहजसुन्दर ने अपने ग्रन्थ के लिए सामग्री प्रबन्धकोश से ही उधार ली है। यद्यपि सहजसुन्दर की कृति 'रत्नश्रावकप्रबन्ध' नामाभिधान से प्रबन्ध प्रतीत होती है तथापि फतेहचन्द बेलानी ने इसे कथाचरित वर्ग में रखा है।[1] यहाँ तक कि बल्लालकृत भोजप्रबन्ध (१६वीं शताब्दी) में भी प्रबन्धकोश का साक्ष्य ग्रहण किया गया है। उक्त भोजप्रबन्ध में स्पष्टतः तीन श्लोक ऐसे हैं जिन्हें बल्लाल ने अक्षरशः प्रबन्धकोश से उद्धृत किया है और चौथे का भाव ग्रहण किया है।[2]

अतः स्पष्ट है कि बल्लालकृत भोजप्रबन्ध में प्रबन्धकोश के श्लोकों का साक्ष्य मिलता है। पहला श्लोक विक्रमादित्य की दान-प्रसिद्धि से सम्बन्धित है जिसका भावार्थ है कि आठ करोड़ सुवर्ण (मुद्रा), तिरानवे तौल मोती, मदगन्धलाभी भौंरों का क्रोध सहने वाले (अर्थात् मदोन्मत्त) पचास हाथी, लावण्यमयी कटाक्ष नेत्रों वाली सौ वाराङ्गनाओं (गणिका) जो पाण्ड्यनृप ने दहेजस्वरूप दण्ड (भेंट) दिया था (विक्रमादित्य ने) उसे ही वैतालिक (बेताल) को अर्पित कर दिया। दूसरा श्लोक राजा को सम्बोधित करके कहा गया है कि "आपने यह अपूर्व धनुर्विद्या कहाँ से सीखी है कि मार्गणों (एक अर्थ बाणों, दूसरा अर्थ याचकों) का समूह आता है और गुण (एक अर्थ मन्त्र, दूसरा अर्थ शौर्यादि गुण) आकाश में चले जाते हैं।" तीसरा श्लोक भी राजा की प्रशंसा में है। "(आप) सर्वदा सबको देने वाले हैं, लोग ऐसी मिथ्या स्तुति करते हैं। शत्रुगण आपकी पीठ को नहीं प्राप्त कर सके हैं और परनारियाँ (वेश्याएँ) आपके वक्षःस्थल को।" चौथे श्लोक में बल्लाल ने राजशेखर का भाव ग्रहण किया है। राजशेखर कहता है कि एक बार जब बप्पभट्टिसूरि नगर के बाहर चले

---

१. दे० बेलानी : जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ४३-४५।

२. दे० प्रको, श्लोक ३०, ४७, ५० व ७४; बल्लालकृत भोज-प्रबन्ध, श्लोक २३१, ३११, ३१२ व ३१७।

गये तब संघ के सेवक भाव-विह्वल होकर कहने लगे कि हम आपके अनुयायी हैं, आप हमें क्यों छोड़ते हैं ? हमारे जैसे सेवकों के अभाव में आपकी ही हानि होगी। आपके चले जाने के बाद राजा पर हम ही प्रभावशाली होंगे। इस भाव को बल्लाल इस प्रकार कहता है कि राजा सेवकों पर प्रसन्न होकर भी मात्र मान (प्रतिष्ठा) देते है, किन्तु सेवकगण सम्मान पाने पर प्राणों को देकर उपकार करते हैं।

इस प्रकार प्रबन्धकोश के साक्ष्य जिनमण्डन के कुमारपालचरित्र, पुरातन-प्रबन्धसंग्रह, कुमारपालचरितसंग्रह के पाँचों प्रबन्ध-ग्रन्थों, रत्नमन्दिरगणि की उपदेशतरंगिणी, शुभशीलगणि कृत पञ्चशती-प्रबोध-सम्बन्ध एवं कई भोजप्रबन्धों में पाए जाते है जिनसे अन्य प्रबन्ध-ग्रन्थों की अपेक्षा प्रबन्धकोश की ख्याति अधिक प्रतीत होती है तथा राजशेखर के इतिहास-दर्शन की मान्यता बलवती होती है।

अध्याय – ७

राजशेखर का इतिहास-दर्शन : कारणत्व, परम्परा एवं कालक्रम

राजशेखर के इतिहास-दर्शन में स्रोत तथा साक्ष्य का अध्ययन कर लेने के बाद कारणत्व, परम्परा एवं कालक्रम पर प्रकाश डालना आवश्यक हो जाता है।

कारणत्व

'कारणत्व' में कारणों की क्रमबद्धता का भाव निहित रहता है। 'कारणत्व' की समस्या पर इतिहासकार के रुख की विशेषता यह होती है कि वह एक ही ऐतिहासिक घटना के कई कारण सामने रखता है। किसी एक कारण के प्रभाव पर केन्द्रित होने से लोगों को सावधान करने के लिए हर सम्भव उपाय करने चाहिए, क्योंकि प्रभाव *में अन्य कारणों का भी हाथ होता है जो मुख्य कारण के साथ मिला* होता है।[1] इसका उदाहरण वस्तुपाल प्रबन्ध में स्पष्ट दीख पड़ता है। वस्तुपाल ने रैवतक पर से तीर्थयात्रा-कर का उन्मूलन इस कारण किया कि *उसे लोकहित साधना था और इस लोकहित-साधन के लिये* उसने छः विविध लोकहित-साधक कार्य भी किये।[1] अतः यहाँ पर लोकहित-साधक कार्यों में कारण व प्रभाव भी संयुक्त हैं। सच्चा इतिहासकार न केवल कारणों की सूची बनायेगा, बल्कि उन्हें क्रमबद्ध और व्यवस्थित करने की बाध्यता भी महसूस करेगा। इसलिए कारणत्व अनावश्यक कारणों के परित्याग में सहायक...

'क्यों घटा' बतलाना जरूरी होता है।[1] इतिहासकार लगातार प्रश्न पूछता रहता है, क्यों ? वह मूल प्रश्न 'क्यों' के अधिकाधिक उत्तर इकट्ठे करता रहता है। अतः इतिहास का अध्ययन कारणों का अध्ययन है। 'क्योंकि', 'कारण से', 'परिणामस्वरूप', 'फलतः', 'तब', 'तत्पश्चात्', 'इसी बीच' आदि कारणत्व के अस्त्र हैं जिन्हें इतिहासकार अपने हाथों में लिये रहता है। वह तो कारणों की विविधता से सम्पकित रहता है। कारणत्व का तात्पर्य कारणता या कार्य-कारण सिद्धान्त होता है। राजशेखर ने कारण के लिये प्रायः 'हेतु', 'कारण', 'क्योंकि' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। कारणत्व की विविधता राजशेखर के इतिहास-दर्शन की अद्भुत विशेषता है। ईर्ष्या, संघ या गच्छ-बँटवारे, संघर्ष-युद्ध, सन्धि-वार्ता, रोष-असन्तोष, सामाजिक समस्या (पारिवारिक कलह), विदेशी आक्रमण, निर्माण-कार्य में विलम्ब, वास्तुदोष, वैमनस्य आदि के कारण न केवल विविध हैं प्रत्युत् भिन्न-भिन्न हैं जिससे कारणत्व में एक-रसता नहीं आने पाती है और वे अधिक विश्वसनीय प्रतीत होते हैं।

राजशेखर ने भद्रबाहु-वराह प्रबन्ध में 'कथं', 'किमेतत् ?' शब्दों को कारणत्व के वाहक रूप में प्रयुक्त किया है।[2] उसने जीवदेवसूरि-प्रबन्ध में प्रासाद-दोष का कारण स्त्री-शल्य का होना बतलाया है।[3] संघ और गच्छ विरोध के कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। मल्लवादि प्रबन्ध में माता ने बालक को संघ छोटा होने का कारण बौद्धों की प्रगति बतलाया।[4] हरिहर प्रबन्ध में राजशेखर ने लिखा है कि धवलक्क में वीरधवल द्वारा हरिहर के स्वागत सत्कार किये जाने के कारण राजकवि सोमेश्वर की ईर्ष्या बढ़ गयी। सोमेश्वर की दुर्भावना से हरिहर क्रुद्ध भी हुए।[5] हरिहर ने सोमेश्वर के दूषित होने का कारण

---

१. वाल्श, डब्ल्यू० एन० : ऐन इन्ट्रोडक्शन टू फिलॉसफी, लन्दन, १९५६, पृ० १६; ह्वाइहि, पृ० ८७; हिहिरा, पृ० ३६२।
२. प्रको, पृ० ३,४, २२।
३. वही, पृ० ८।
४. वही; पृ० २२।
५. प्रको, पृ० ५८।

'पण्डित की अवज्ञा' बतलाया।[1]

वप्पभट्टिसूरि प्रबन्ध में राजशेखर ने एक समाजशास्त्रीय समस्या पारिवारिक कलह का कारणत्व दारिद्रय नहीं अपितु चरित्र बतलाया है। मुयशा क्षत्राणी की सौत ने उस पर पर-पुरुष दोष आरोपित कर घर से निष्कासित करवा दिया। स्वाभिमान के कारण उसने श्वसुर-कुल और पितृकुल का त्याग कर दिया।[2] उसी प्रबन्ध में लिखा है कि आम राजा ने एक नारी के साथ पाप का आचरण किया।[3] यहाँ पर राजशेखर ने आम राजा के पाप-प्रायश्चित के विविध विकल्पों को प्रस्तुत कर दिया है। हेमसूरिप्रबन्ध में सूरि ने कुमारपाल के पूर्वभव का इतिवृत्त सुनाया जिसमें से राजशेखर ने एक विचित्र सामाजिक कारणत्व ढूंढ़ निकाला कि पूर्व-जन्म में गर्भाघात करने के कारण सिद्धराज के पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ।[4] इस प्रकार राजशेखर ने प्रबन्ध-कोश में अधिकतर बातों का सकारण विवेचन किया है। विक्रमादित्य प्रबन्ध में वेताल ने एक कामकथा सुनायी जिसमें एक अति विचित्र एवं विनोदपूर्ण सामाजिक समस्या उत्पन्न हो गयी थी। ब्राह्मण पुत्री द्वारा काष्ठ-भक्षण कर लेने का कारण यह था कि उसके पिता ने उसे अलग-अलग गाँव के चार वरों को दिया था, जिसके फलस्वरूप विवाद उत्पन्न हो गया था।[5]

चौलुक्य-चाहमान संघर्ष के कारण

हेमचन्द्र के अनुसार अपनी स्थिति सुदृढ़ करके अर्णोराज ने कुमार-पाल पर आक्रमण कर दिया।[6] प्रभाचन्द्र के मतानुसार राजा वन

१. "पण्डितेन मय्यवज्ञा दध्रे", वही, पृ० ६०।
२. प्रको, पृ० २७।
३. "इदं जनङ्गमीसङ्गपापं काष्ठानि भक्षयामि।" वही, पृ० ३९।
४. "यह सिद्धेशेनापि वैरकारणमुपलब्धम्। पूर्वभवे गर्भापाठान्न सिद्धराजस्य पुत्रः।" वही, पृ० ५४।
५. "सा चतुर्णां वराणां दत्ता पृथक् पृथक् ग्रामे। चत्वारो व्यागताः। विवादो जातः।" प्रको, पृ० ८०।
६. द्वयाश्रय, १६ वां, पद १४।

जाने के बाद कुमारपाल ने सपादलक्ष के मदान्ध राजा अर्णोराज से युद्ध करने का निश्चय किया।[1] मेरुतुङ्ग के अनुसार सिद्धराज का दत्तकपुत्र चाहड़ कुमारपाल की अवज्ञा करके सपादलक्ष चला गया। वहाँ के राजा और सामन्तों को उत्कोच देकर मिला लिया और तब वे विशाल सेना के साथ गुजरात की सेना की ओर बढ़े।[2] किन्तु जयसिंहसूरि, जिनमण्डन और राजशेखर को युद्ध के इन कारणों से सन्तुष्टि न हो सकी।[3]

प्रबन्धकार की पैनी दृष्टि ने चौलुक्यों और चाहमानों के बीच संघर्ष के कतिपय रोचक कारणों को भी खोज निकाला।

(१) राजशेखर कहता है कि चौलुक्य कुमारपाल की बहन देवल्ल-देवी का विवाह चाहमानवंशीय शाकम्भरी नरेश आनाक से हुआ था। एक बार वे दोनों शतरंज खेल रहे थे। आनाक अकस्मात् चिल्ला उठा—'मारयमुण्डिकान् पुनर्मारय मुण्डिकान्'। मुण्डिका का अर्थ पैदल भी हुआ और यह शब्द गुजरात के चालुक्यो के क्षौर किये हुए सिर से भी जुड़ा हुआ है। इस व्यंग्य पर रानी कुपित हुई और आनाक से बहस करने लगी। इस कारण राजा आनाक ने क्रुद्ध होकर रानी पर पद-प्रहार किया और रानी ने आनाक को दण्ड दिलाने की प्रतिज्ञा की।

(२) रानी अविलम्ब चौलुक्य नरेश के पास गयी और उसने अपमान तथा अपनी प्रतिज्ञा को बतलाया। तब कुमारपाल ने एक मन्त्री को आनाक के यहाँ वृत्तान्त जानने के लिए भेजा।

(३) मन्त्री ने आनाक राजा की एक दासी से गुप्त सूचना प्राप्त की कि आनाक ने व्याघ्रराज को कुमारपाल के वध के लिये नियुक्त किया है। इस प्रकार मन्त्री ने शत्रुगृह के मर्म को जान लिया।

(४) मन्त्री ने चतुर यामलिकों को कुमारपाल के पास उक्त सूचना प्रदान करने के लिये भेजा। कुमारपाल सावधान हो गया।

---

१. "सपादलक्ष भूमीशमर्णोराजं मदोद्धतम्। विग्रहीतुमनाः सेनामसावेनाम-सज्जयत्।" प्रभाच, २२ वाँ, पद ४१७।

२. प्रचि, पृ० ७९, श्लोक १३२।

३. दे० कुमारपालभूपालचरित, चौथा, पद १७२-२१२; कुमारपालप्रबन्ध ३९; प्रको, पृ० ५०-५२।

कुमारपाल की मृत्यु के कारण

हेमचन्द्र के स्वर्गारोहण के ३२ वें दिन अजयपाल द्वारा प्रदत्त विष के कारण कुमारपाल परलोकवासी हुआ।[1] इस कारणत्व में प्रबन्धचिन्तामणि से अधिक वृत्तान्त राजशेखर ने प्रस्तुत किया है। सौभाग्य से कुमारपाल की मृत्यु के सम्बन्ध में जिनमण्डनगणि तथा अबुल फज्ल ने भी इसी कारणत्व को लिपिबद्ध किया है,[2] जिनसे राजशेखर के कारणत्व की पुष्टि हो जाती है। अजयपाल के हृदय में जघन्य विचार आ रहे थे, अवसर आने पर उसने दूध में विष मिला दिया और कुमारपाल को दिया। कुमारपाल को बचाया न जा सका और वह ११७३ ई० में चल बसा।[3] विष देने का औचित्य यह है कि कुमारपाल ने अजयपाल को अनाधिकृत करने के लिए हेमचन्द्र की राय मानी थी, जिसकी अहम् राजनीतिक भूमिका थी।

वामनस्थली के युद्ध और सन्धि-कार्य के कारण

वामनस्थली के युद्ध में एक पक्ष में वीरधवल और दूसरे में उसके साले साङ्गण और चामुण्डराज थे। इस युद्ध का कारण वीरधवल द्वारा वामनस्थली पर कर-रोपण था। वीरधवल की रानी जैतलदेवी सन्धि के हेतु अपने दोनों भाइयों के पास गयी और बोली—"भाइयों! मैं आपके समीप पति-वध से भयभीत होकर नहीं आयी हूँ, अपितु पितृ-गृह के उजड़ने से भयभीत हूँ।"[4] राजशेखर ने यहाँ पर एक विश्लेषणात्मक कारणत्व प्रस्तुत किया है।

जावालिपुर के चाहमानों में असन्तोष और पञ्चग्राम युद्ध के कारण

वीरधवल के पास जावालिपुर के तीन सहोदर सामन्तपाल,

---

१. 'ततो द्विनद्वात्रिंशता राजा कुमारपालो अजयपालदत्तविषेण परलोकमगमत्।' प्रको, पृ० ९८।

२ प्रचि, पृ० ९५; कुमारपाल प्रबन्ध, पृ० ११३-११४; आईन-ए-अकबरी, द्वितीय, पृ० २६३।

३. कुमारपालभूपालचरित, १० वाँ, पद १०७ व आगे।

४. 'समानोदर्यौ। नाहं पतिवधभीता व: समीपमागम्, किन्तु निजपितृगृहत्वभीता।' प्रको, पृ० १०४।

अनन्तपाल और त्रिलोकसिंह नामक चाहमान सेवार्थ धवलक्क आए। वे तीनों सेवा के बदले में कुछ भूसम्पत्ति चाहते थे किन्तु वीरधवल ने उन्हें लौटा दिया। वीरधवल के कृपण व्यवहार के कारण उनका असन्तोष बढ़ा।[1] वे तीनों भीमसिंह के संघ में जा मिले, जिस कारण पञ्चग्राम का युद्ध हुआ। अन्त में वस्तुपाल-तेजपाल ने वीरधवल को स्मरण कराया कि आपने मारवाड़ के तीन योद्धाओं को ग्रहण नहीं किया था, वे शत्रु-सेना में जाकर मिल गये हैं। इस प्रकार राजशेखर ने यह प्रमाणित कर दिया कि जावालिपुर के चाहमानों के असन्तोष, चाहमान और भीमसिंह संघ-निर्माण तथा पञ्चग्राम युद्ध का कारण वीरधवल का कृपण-व्यवहार था।

तेजपाल और घूघुल के बीच युद्ध के कारण

महीतट प्रदेश के गोधिरा नगर में घूघुल मण्डलीक रहता था, जिससे तेजपाल का युद्ध हुआ। राजशेखर ने इस युद्ध के कई कारण सुझाये हैं, जैसे —

(१) घूघुल वीरधवल की आज्ञा नहीं मानता था। इस अवज्ञा ने युद्ध की पूर्व-पीठिका तैयार कर दी थी।

(२) तेजपाल ने घूघुल को समझाने के लिए एक वीर-योद्धा भेजा, जिससे घूघुल क्रोधित हुआ।

क्रुद्ध घूघल ने वीरधवल के लिए एक साड़ी और कज्जल की डिबिया भेजी[2], जो इसका सूचक था कि विरोधी पत्नीवत् समर्पण कर दे।

(३) सेना का योजनाबद्ध प्रयाण — घूघुल से युद्ध करने के लिए तेजपाल ने महीतट प्रदेश पहुँच कर अपनी सेना को दो भागों में बांट दिया — (क) एक भाग वहीं स्थित कर दिया, (ख) दूसरा

---

१. जबकि एक स्थल पर राणक अपनी कृपणता को ही दोष देते हैं और कहते हैं कि राजा की कृपणता से सेवक अल्पवृत्ति वाले (चोर) हो जाते हैं। प्रको, पृ० ११३।

२. 'तेनागत्य राणश्रीवीरधवलाय कज्जलगृहं शाटिका चेति द्वयं दत्तम्।' वही, पृ० १०७।

भाग अपने आगे-आगे भेजा और (ग) स्वयं सैनिक गतिशीलता में गुप्तरूप से संलग्न हो गया।[1]

(४) जब घूघुल के पक्ष में भगदड़ मच गयी और उसका मन्त्री कटक भाग निकला तब तेजपाल ने घूघुल से कहा — "तुम्हारे शत्रु प्रवल हैं, तुम्हारा सम्पूर्ण वल भग्न हो गया है, उपाय करो।"[2] इन कारणों से युद्धाग्नि भभक उठी।

तेजपाल-शङ्ख युद्ध के कारण

वडू वेलाकूल[3] का स्वामी राजपुत्र शंख था, जो अभिमानी था। तेजपाल ने शंख से कहा कि वह सदीक नौवित्तक को समझा दे। शंख ने प्रत्युत्तर दिया कि मेरे एक नौवित्तक से वश नहीं चला।[4] इस प्रत्युत्तर के कारण खिन्न होकर तेजपाल ने शंख से ही युद्ध करने की तैयारी की। आगे राजशेखर कहता है कि शंख की पराजय और सदीक को वन्दी बनाने के बाद तेजपाल ने समूचे महाराष्ट्र के लिए भूमि जीतने का प्रयास किया। वेलाकूल नरेश के बाद अन्य राजा क्रम से प्रतिग्रह (रिश्वत) द्वारा मन्त्री तेजपाल के सान्निध्य में आये और जयश्री अर्पित की। इस कारण से वे सन्तुष्ट हुए और बहुत सी बहुमूल्य वस्तुएँ ले आये।[5]

मुसलमानों से संघर्ष के कारण

जिन मुसलमानों के आक्रमणों का वर्णन राजशेखर ने किया है उनमें प्रायः एक समान कारणत्व ही कार्य कर रहे थे। ये आक्रमण

---

१. 'गतस्तद्देशादर्वाग्भागे कियत्यामपि भुवि; स्थित्वा सैन्यं कियदपि, स्वल्पमग्रे प्रास्थापयत्। स्वयं महति मेलापके गुप्तस्तस्थौ।' वही।

२. 'अरिस्तावद्वली आत्मीयं तु भग्नं सकलं बलम्।...तस्मात् कुर्मः समुचितम्।' वही।

३. 'स च सर्ववेलाकूलेषु प्रसरमाणविभवो महाधनाढ्यो बद्धमूलोऽधिकारिणं नन्तुं नायाति।' वही, पृ० १०८।

४. 'मन्त्रिन्! मदीयमेकं नौवित्तकं न सहसे।' वही, पृ० १०८।

५. 'इति कारणात् ते गुप्ताः बोहित्थानि सारवस्तुपूर्णानि प्राभृते प्रहिण्वन्ति।' वही, पृ० १०९।

आन्तरिक मतभेद से सम्बन्धित थे जिनका एक सामान्य कारण था विरोधी या असन्तुष्ट व्यक्ति का मुसलमानों से मिल जाना। राज्य-उत्तराधिकार के कारण राजा जयचन्द्र और रानी सूहवदेवी में मतभेद हो गया। सूहवदेवि (पुनर्धूता) के पुत्र को गहड़वाल राज्याधिकार न देकर सुवंशी मेघचन्द्र को दिया गया। इस कारण सूहवदेवि क्रुद्ध हो गयी और उसने तक्षशिलाधिपति मुरत्राण को काशी विनष्ट करने के लिये निमन्त्रण भेज दिया।[१] राजा हृदय में हार गया। यह नहीं ज्ञात है कि तदनन्तर जयचन्द्र मारा गया अथवा कहीं गया अथवा मर गया या गंगा में गिर गया। यवनों ने नगरी हस्तगत कर लिया।[२] इस प्रकार प्रबन्धकोश में कारणत्व की न केवल विभिन्नता है अपितु विविधता भी है।

मोजदीन सुरत्राण के अभियान के कारण

राजशेखर का प्रथम मोजदीन सुरत्राण इल्तुतमिश (१२१०-३५ ई०) है।[३] राजशेखर की दृष्टि में उस सुल्तान के गुजरात अभियान का एक साधारण कारण था — म्लेच्छों की दुर्जेयता। प्रबन्धकोशकार इस कारणत्व को ऐतिहासिक तथ्यों की सहायता से पुष्ट करते हुए कहता है कि "म्लेच्छों द्वारा गद्दर्भिल्ल की गर्दभी-विद्या सिद्ध तिरस्कृत हो गयी है। प्रतिदिन सूर्यमण्डल से निकले अश्वों से रची राजपाटिका (राजकीय शोभायात्रा) थी। उसके कर्ता शिलादित्य को भी पीड़ित किया। सात सौ योजन के स्वामी जयन्तचन्द्र का भी नाश किया। बीस बार बाँधे गये सहाबदीन सुल्तान के विजेता पृथिवीराज भी बाँधे गये। इसलिए (वह) निश्चय ही दुर्जय है।[४]

प्रथम मोजदीन की पराजय के कारण

प्रथम मोजदीन की पराजय का कारण वस्तुपाल की सामरिक-

---

१. प्रको, पृ० ५७। ३२७ ई० पू० देशद्रोही आम्भी ने भी विदेशी आक्रान्ता सिकन्दर को भारत पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया था।

२. 'राजा हृदयेहारयामास। ततो न ज्ञायते-किं हतो गतो मृतो वा। गङ्गाजले पतत्। यवनैर्लाता पूः।' वही, पृ० ५८।

३. दे० पूर्ववर्णित अध्याय ५, ऐति० तथ्य और उनका मूल्यांकन (क्रमशः)।

४. '...पृथिवीराजोऽपि बद्धः। तस्माद् दुर्जया अमी।' प्रको, पृ० ११७।

योजना की सफलता थी। जब वस्तुपाल को प्रथम मोजदीन (इल्तुतमिश) की सेना के आगमन का समाचार मिला, उसने एक योजना बनायी।

(१) वस्तुपाल ने धारावर्ष के पास सेना को भेजा और आदेश दिया कि तैयारी करे।

(२) वस्तुपाल ने अपनी योजना के अन्तर्गत धारावर्ष को यह निर्देश दिया कि जब म्लेच्छ सेना आबू पर्वत के बीच से होकर आने की चेष्टा करेगी, उस आती हुई सेना को रोकना मत, अपितु उस घाटी को घेर लेना।

ऐसा ही हुआ। यवन लोग मारे गये।[1] इल्तुतमिश की सेना की पराजय के ये दो कारण थे।

द्वितीय मोजदीन सुल्तान मुइज्जुद्दीन बहरामशाह (१२४०-४२ ई०) के साथ आजीवन सन्धि के कारण

वस्तुपाल और दास-वंश के बहरामशाह (१२४०-४२ ई०) के बीच आजीवन सन्धि हुई थी। इसका कारण था वस्तुपाल द्वारा सुल्तान व उसके परिवार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना। राजशेखर ने चर्चा की है[2] कि एक बार (द्वितीय) मोजदीन सुल्तान (मुइज्जुद्दीन बहरामशाह) की वृद्धा माता हज-यात्रा के लिए उत्सुक स्तम्भपुर आयी। वस्तुपाल ने निजी कोलिकों (युद्धालु जनजातियों) द्वारा उसके जलयान की वस्तुएँ लुटवा लीं। मन्त्री ने अनभिज्ञता का स्वांग रचा और घर लाकर वृद्धा का सत्कार किया क्योंकि वस्तुपाल अपने को सुल्तान का शुभाकांक्षी सिद्ध करना चाहता था। फिर वस्तुपाल वीरधवल की अनुमति से वृद्धा को दिल्ली पहुँचाने ले गये। जब सुल्तान को वस्तुपाल द्वारा किये गए माता के सत्कारादि का पता चला तो उसने वस्तुपाल को आमन्त्रित किया।

बातचीत के दौरान अवसर देखकर वस्तुपाल ने कहा—"देव!

---

१. प्रको, पृ० ११७।
२. वही, पृ० ११९-१२०।

गुजरात के साथ आप अपने जीवनपर्यन्त सन्धि करें।"[1] इसकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप सुल्तान ने तीर्थों के निर्माणार्थ सहायता दी और वस्तुपाल द्वारा प्रदत्त आतिथ्य के कारण बहरामशाह और वस्तुपाल के बीच सन्धि हो गयी।

निर्माण-कार्य में विलम्ब और वास्तु-दोष के कारण

वस्तुपाल प्रबन्ध में राजशेखर कहता है कि वास्तुकार शोभनदेव ने स्तम्भ ऊँचा होने में विलम्ब के चार कारण प्रस्तुत किये हैं—

(१) मण्डप गिरि-परिसर में है।

(२) शीत बढ़ जाती है।

(३) प्रातःकाल बनाना कठिन होता है।

(४) मध्याह्न में घर जाकर स्नान और भोजन करना पड़ता है।[2] राजशेखर वास्तु-दोष के सात कारणों को क्रम से संख्या देते हुए गिनाता है और अर्बुदगिरि के नेमि-प्रासाद के वास्तु-दोष का विश्लेपणात्मक कारणत्व प्रदान करता है—

१. प्रासाद की अपेक्षा सीढ़ियाँ छोटी हैं।

२. स्तम्भ के ऊपर बिम्ब अपमान का द्योतक है।

३. द्वार-स्थान में व्याघ्र की मूर्ति होने से अल्प पूजा की जायेगी।

४. जिन-मूर्ति के पृष्ठभाग में पूर्वजों की मूर्ति-स्थापना वंशजों की ऋद्धिनाश की सूचिका है।

५. आकाश में जैन-मुनि की मूर्ति-स्थापना दर्शन-पूजा की अल्पता का सूचक है।

६. काले रङ्ग की गूहली (शुभ-चिह्न) मंगलकारी नहीं है।

७. भार-पट्ट (धरन) बारह हाथ लम्बा है जो कि कालानुसार ऐसा नहीं होना चाहिए, यह विनाश का सूचक है।[3]

---

१. 'देव ! गुर्जरधरया सह देवस्य यावज्जीवं सन्धिः स्यात्।'
वही, पृ० १२०।

२. 'स्वामिनि ! गिरिपरिसरोऽयम्। शीतं स्फीतम्। प्रातर्घटनं विषमम्। मध्याह्नोद्देशे तु गृहाय गम्यते, स्नायते, पच्यते, भुज्यते। एवं विलम्बः स्यात्।" वही, पृ० १२२।

३. वही, पृ० १२४।

अतः राजशेखर के इतिहास-दर्शन की आधारशिला यदि उसके स्रोत है तो कारणत्व वे ईंटें हैं जिन पर उसने इतिहास-भवन का निर्माण किया।

(२) परम्परा

परम्परा एक सामाजिक विरासत है। परम्परा का तात्पर्य लोगों के विचारों, आदतों और प्रथाओं के संकलित रूप से है, जिनका पीढ़ी-दर-पीढ़ी सम्प्रेषण होता है। ऐसे ऐतिहासिक साहित्य में से ऐतिहासिक परम्परा को खोजा जा सकता है।[1] यदि प्राचीन भारतीय इतिहास के स्रोतों का दोहन किया जाय तो ऐतिहासिक परम्परा प्राप्त हो सकती है। कौटिल्य के लिए 'इतिहास' का उद्देश्य इस प्रकार से अतीत की घटनाओं का वर्णन करना था जो हिन्दू-परम्परा के लक्ष्यों के अनुरूप हों।[2] परन्तु जैनों ने ऐतिहासिक परम्परा को प्रबन्धों और राजवंशावलियों के माध्यम से सुरक्षित कर रखा है क्योंकि जैन धर्म-गुरुओं और सूरियों को ऐतिहासिक परम्परा के प्रति अगाध प्रेम रहा है।

पुरातनता और परम्परा के बीच बिन्दु और रेखा का सम्बन्ध है। पुरातन देश होने के नाते भारत सहज ही परम्पराप्रिय रहा है। युग-युगीन धर्म और संस्कृति की धाराओं को अजर-अमर बनाने के लिये जैनों ने भी भगीरथ प्रयास किये हैं। यही कारण है कि राजशेखर ने अपने इतिहास-दर्शन में परम्पराओं को मूर्धन्य स्थान दिया है। जहाँ 'परम्परा' शब्द सद्-आगम और सद्-गुरुओं का बोधक है, वहाँ यह प्रामाणिकता का द्योतक भी है।[3] इतिहास अपने प्रारम्भ से ही परम्पराओं की स्थापना करता चलता है। परम्पराओं का कार्य

---

१. थापर, रोमिला : ऐन्शियेण्ट इण्डियन सोशल हिस्टरी, दिल्ली, १९७८, पृ० २६९।

२. अर्थशास्त्र, प्रथम, ५।

३. परम्परागत आगम और गुरुओं को सर्वप्रथम स्थान है। इसलिये 'आचार्यगुरुभ्यो नमः' के स्थान पर 'परम्पराचार्य गुरुभ्यो नमः' का प्रचलन है। दे० शास्त्री, नेमिचन्द्र : तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, सागर, १९७४, पृ० ७।

भूतकाल की आदतों एवं शिक्षाओं को भविष्यकाल में ले जाना है।[1] व्यापक अर्थ में परम्परा उन सभी प्रथाओं, साहित्यिक उपायों तथा अभिव्यक्ति की आदतों को प्रकट करती है जो किसी ग्रन्थकार को अतीत से प्राप्त हुई हो। परम्परा किसी विशिष्ट धर्म या दर्शन, साहित्यिक रूप, युग और संस्कृति की भी हो सकती है, जैसे — जैन-परम्परा, प्रबन्ध-परम्परा, राजपूत-युग की परम्परा और चौलुक्य-संस्कृति की परम्परा। अच्छे अर्थ में हम कहते हैं कि अमुक ग्रन्थकार एक महान् परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। बुरे अर्थ में हम कहते हैं कि अमुक ग्रन्थकार केवल परम्परावादी है[2]। परम्पराओं के साथ इतिहासकार का सम्बन्ध बड़ा जटिल होता है। कोई भी इतिहास-कार कितना ही अन्धानुयायी क्यों न हो, वह अपनी उत्तराधिकृत परम्परा में आवश्यकतानुसार संशोधन करता ही है क्योंकि भाषा की गत्यात्मकता परम्पराओं में संशोधन करा ही देती है। इसका कारण यह है कि सभी एकत्र परम्पराओं को स्मरण रखना असम्भव है। अधिकांश विलुप्त हो जाती है। जो परम्पराएँ राजाओं, धर्माचार्यो या विद्वानों के लिए विशेष महत्व और रुचि की होती थीं उन्हें ही सुरक्षित रखा जाता है। अतः ऐसी परम्पराओं को केवल इसलिये भी अमान्य नहीं करना चाहिये कि उनमें विरोधाभास है। व्यूलर ने जैन परम्पराओं की प्रामाणिकता, उनके मोल और इतिहास में उनके महत्व की अत्यधिक प्रशंसा की है।[3]

यद्यपि प्रभावकचरित, प्रबन्धचिन्तामणि, पुरातनप्रबन्धसंग्रह, विविधतीर्थकल्प और प्रबन्धकोश जैसी जैन-कृतियाँ गौड़वहो की तरह समकालीन लेखा नहीं प्रदान करती हैं तथापि उनमें अबाध परम्परा द्वारा सुरक्षित सामग्री ऐतिहासिक चरित्र की है।[4] राजशेखर इतिहास

---

१. कार : ह्वाट इज हिस्टरी, पृ० १०८।

२. शिप्ले : डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेचर, न्यू जर्सी, १९६२, पृ० ४१८।

३. ब्यूलर : द इण्डियन सेक्ट ऑफ द जैन्स, में दे० "आन द ऑथेण्टिसिटी ऑफ जैन ट्रेडिशन्स" (अनु०) बर्गेस, लन्दन, १९०३, पृ० २१-२२।

४. दे० आयंगर, एस० के० : ऐन्शियेण्ट इण्डिया, १९४१, पृ० ३४५; जेबीबी आर ए एस, तृतीय, मई १९२८, पृ० १०३।

को स्रोत-ग्रन्थों, साक्ष्यों एवं परम्पराओं पर आधारित मानता था। उसके विचारानुसार योग्य परम्परा तथा सुनी-सुनायी बातें ही इतिहास का निर्माण करती है। अतः वह ग्रन्थारम्भ में ही परम्पराओं को स्पष्ट करता है और कहता है कि यहाँ पर मैंने 'गुरुमुखश्रुतानां' (गुरुमुख से सुने हुए) विस्तृत एवं रस-सम्पन्न चौबीस प्रबन्धों का संग्रह किया है।[१] 'गुरुमुखश्रुतं' का प्रयोग राजशेखर ने अन्तिम प्रबन्ध में भी किया है। वह वस्तुपाल और तेजपाल के सुकृत्यों की विस्तृत सूची गुरुमुख द्वारा सुनी गयी, बातों के आधार पर तैयार कर लिखता है। उन दोनों के कीर्तन (इतिवृत्त) चारों दिशाओं में सुनायी पड़ते हैं।[२] ग्रन्थागत सामग्रियों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे राजशेखर स्वयं कहता है कि उसने अपने वर्णनों को वृद्धजनों तथा पूर्ववर्ती ग्रन्थों द्वारा प्रदत्त परम्पराओं पर आधारित किया है।[३]

पादलिप्ताचार्य-प्रबन्ध में राजशेखर ने परम्परा या अनुश्रुति को मान्यता प्रदान करते हुए कहा—'वहाँ (पादलिप्तपुर में) हेमसिद्ध-विद्या अवतरित है, ऐसा वृद्धों ने कहा है।'[४] बप्पभट्टसूरि प्रबन्ध में आमराजा द्वारा गोपगिरि-प्रासाद के निर्माण का जो विस्तृत वर्णन राजशेखर ने किया है, वह वृद्धों द्वारा कहा हुआ है।[५] वृद्धवादि-सिद्ध-सेन प्रबन्ध में राजशेखर ने परम्परा को ऐतिहासिक परिधान में आविष्ट कर दिया है। वह चर्चा करता है कि भिन्न-भिन्न आचार्यों से तक्षक के फण-मण्डप में विष विद्यमान था, ऐसी अनुश्रुति है।[६]

---

१. 'इदानीं वयं गुरुमुखश्रुतानां विस्तीर्णानां रसाढ्यानां चतुर्विंशतेः प्रबन्धानां सङ्ग्रहं कुर्वाणाः स्म।' प्रको, पृ० १।

२. 'परं गुरुमुखश्रुतं किञ्चिल्लिख्यते। ''तयोः कीर्तनानि श्रूयन्ते।' दे०, वही, पृ० १२९-१३०।

३. 'बहुश्रुतमुनीशेभ्यः प्राग्ग्रन्थेभ्यश्च कानिचित्।
उप श्रुत्येतिवृत्तानि वर्णयिष्ये कियन्त्यपि॥' वही, पृ० १।

४. 'तत्र हेमसिद्धविद्याऽवतरिता स्तीति वृद्धाः प्राहुः।' वही, पृ० १३।

५. '...प्रासाद कारयामासे गोपगिरौ।...इति वृद्धाः प्राहुः।' प्रको: पृ० २९।

६. वही, पृ० ८६।

उसने पूर्वगत अनुश्रुतियों को ग्रहण किया।[१] उसी प्रबन्ध में आगे वह उद्घोषित करता है कि विक्रमादित्य ने जो कुछ कहा वह जन-परम्परा द्वारा सुनकर कहा था।[२]

इस सम्बन्ध में एक बात यह महत्वपूर्ण है कि जिस प्रकार जैनों ने परम्परा को वरीयता दी, उसी प्रकार तत्कालीन भारतीय मुसलमान इतिवृत्तकारों ने भी इतिहास-लेखन में परम्परा को महत्ता प्रदान की। इस्लाम में परम्परा के लिए एक वचन 'हदीस' और परम्पराओं के लिए बहुवचन 'अहादीस' शब्द प्रयुक्त होते हैं। जो बातें पुश्त-दर-पुश्त चली आ रही हों, उन्हें 'रवायत' भी कहते हैं।[३] हज़रत मुहम्मद के समय से ही मुसलमानों ने उनके उपदेशों एवं कार्यों को सर्वोत्तम 'हदीस' कहा है।[४] "हदीस हज़रत मुहम्मद के शब्दों, कार्यों और अनुमतियों के लिखित सङ्ग्रह हैं।... हदीस के अध्ययन के बिना मुस्लिम-ज्ञान अपूर्ण रहता है।"[५] इब्न सईद के 'तबकात' में कुछ साथियों को 'मग़ाज़ी' (तारीखी रवायत) अर्थात् ऐतिहासिक परम्पराओं पर अधिकारी माना गया।[६] अतः इस्लाम में परम्पराएँ मुहम्मद साहब के उपदेशों एवं कार्यों के वे सुप्रसिद्ध मौखिक प्रमाण हैं जो उनके प्रारम्भिक अनुयायियों द्वारा चले आये हैं और अन्ततोगत्वा

---

१. 'अपरापरगुरुभ्यः पूर्वगतश्रुतानि लेभे।' वही, पृ० १८।

२. 'एवं च जनपरम्परया श्रुत्वा विक्रमादित्यदेवः...।' वही।

३. मौलवी अब्दुल हक़ : स्टूडेण्ट्स स्टैण्डर्ड इंग्लिश-उर्दू डिक्शनरी, कराची, १९६५, पृ० १३३३।

४. एम० जेड० सिद्दीकी : हदीस लिटरेचर, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, १९६१, पृ० १।

५. इब्राहीम, एज्जेद्दीन आदि (अनु०); फोर्टी हदीस, फिरदौस पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९७९, पृ० ७। इन हदीसों में उमर, अब्दुर्रहमान, अब्दुल्ला आयशा, अबू मुहम्मद अलहसन, इब्नमसूद, अब्दुल्ला जाबिर, अब्बास आदि के कथनों को हजरत मुहम्मद की वाणी के रूप में उद्धृत किया गया है। विद्वानों ने ऐसी चालीस अहादीस को इस्लाम की धुरी, इस्लाम का अर्द्धांश आदि कहा है। वही, पृ० २८।

६. वही, पृ० १३।

परवर्ती मुसलमानों द्वारा लिपिबद्ध कर लिये गए हैं।[1] इस प्रकार इस्लाम में भी ऐतिहासिक परम्पराओं (तारीखी रवायत) का महत्त्व है।

कुछ विद्वानों का कथन है कि सल्तनत युग में इतिहास-लेखन की एक जीवन्त परम्परा कश्मीर की तरह गुजरात में भी विद्यमान रही है जिस पर अरबी यात्रियों एवं मुसलमान इतिवृत्तकारों का प्रभाव पड़ा।[2] इस कथन का उत्तरार्द्ध सही नहीं प्रतीत होता है क्योंकि भारत में प्राचीन काल से ही भृग्वांगिरस् परिपाटी युगों से चली आ रही थी, जो ऐतिहासिक परम्परा की अवधारणा को स्पष्ट करती है।

परम्परा के सन्दर्भ में राजशेखर ने 'श्रूयते ह्यद्यापि', 'श्रूयते साम्प्रत्यपि', 'अद्यापि' आदि शब्दों के प्रयोग किये हैं। विक्रमादित्य प्रबन्ध में तो राजशेखर द्वारा राम-कथा की परम्परा को जीवित बनाये रखने का स्तुत्य प्रयास किया गया है।[3] आगे वह लिखता है कि पूर्वजों की परम्परा से जो ज्ञात है उसे आपको बतलाया।[4]

इस प्रकार राजशेखर की परम्परा की अवधारणा में 'गुरुमुख श्रुतं' जन परम्परा, वृद्धाः प्राहुः, को प्रायः समान स्थान दिये गए हैं। 'यादृशं श्रुतं तादृशं लिखितम्' वाला सिद्धान्त राजशेखर ने प्रयुक्त किया था। राजशेखर ने वस्तुपाल की विद्वत्ता और सम्पन्नता के सम्बन्ध में 'अवस्थाः शृणुमः' के आधार पर प्रबन्ध रचा।[5] व्याख्याओं को सुन-सुनकर तत्त्वयुक्त मति द्वारा मांस-परिहार की रचना की जाती थी।[6] आगे राजशेखर प्रथम मोजदीन सुल्तान के अभियान का वर्णन अनुश्रुति के ही आधार पर करता है कि ऐसी मान्यता है कि उसकी

---

१. विलियम गोल्ड-सेक : द ट्रेडिशन्स इन इस्लाम, मद्रास, १९१९, पृ० १।
२. हसन मोहिबुल : हिस्टोरियन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, मेरठ, १९६८, पृ० ११-१२।
३. 'स काश्चित् श्रीरामस्य वार्ताः पारम्पर्यायाताः सम्यग् विवेद।' प्रको, पृ० ८०।
४. 'पूर्वेज पारम्पर्योपदेशात् ज्ञातं युष्मभ्युक्तं च।' वही, पृ० ८३।
५. 'अवस्थाः शृणुमः। यथा' वही, पृ० १११।
६. 'व्याख्यानं श्रावं श्रावं।' वही, पृ० ११३।

चतुरंगिणी सेना आबू पर्वत से होकर गुजरात में प्रविष्ट हो गयी है।[१] उसी प्रबन्ध में राजशेखर परम्पराओं के दो स्पष्ट रूपों का उल्लेख करता है —

(१) कर्णाकर्णिकया श्रुतं एवं
(२) प्राचीन ख्यात।

'कर्णाकर्णिकया श्रुतं' का शाब्दिक अर्थ हुआ एक कान से दूसरे कान तक सुना गया। इस प्रथम रूप की व्याख्या करते हुए राजशेखर कहता है कि वीरधवल ने पहले भी दिल्ली-गमन वृत्तान्त कर्णाकर्णिकया द्वारा सुना था, किन्तु पुनः विशेषतः वस्तुपाल से पूछा। उसने भी सम्पूर्ण प्राचीन ख्यात सुनाया।[२] वस्तुपाल के सम्बन्ध में 'कर्णपरम्परागत' प्रचलित उसकी कल्याणकारी कीर्ति सुनी जाती थी[३] और वीरधवल को परम्पराओं का ज्ञान था।[४]

वप्पभट्टिसूरि-प्रवन्ध में राजशेखर महापुरुषों की आचार-परम्परा की दुहाई देते हुए कहता है कि "महापुरुषों की आचार-परम्परा रही है अपना तथा गुरुओं का नाम न वताना।"[५] राजस्थापनाचार्यो ने भी परम्परा का पालन किया।[६] राजागण भी पूर्वजों की परम्परानुसार देवीदाय देते आये हैं।[७] इससे स्पष्ट होता है कि राजशेखर गुरुओं, वृद्धजनों, महापुरुषों की परम्पराओं को देखने या सुनने के लिए व्यग्र रहा करता था। राजशेखरसूरि ने हेमप्रवन्ध में अनुश्रुति के आधार

---

१. 'मन्ये अर्बुददिशा गूर्ज्जरधरां प्रवेष्टा।' वही, पृ० ११७।
२. 'पूर्वमपि कर्णाकर्णिकया श्रुतं ढिल्लीगमनवृत्तान्तम्। पुनः सविशेषं मन्त्रिणं पप्रच्छ। सोऽपि निरवशेषमगर्वपरः प्राचख्यौ।' वही, पृ० १२०।
३. वही, पृ० १२४। तुलना कीजिये — पुप्रस, पृ० ७०, पद २१६।
४. 'ज्ञातं पारम्पर्य वीरधवलेन', प्रको।
५. 'महाजनाचारपरम्परेदृशी 'स्वनाम' नामाददते न साधवः।' वही, पृ० २७।
६. 'राजस्थापनाचार्यश्च पारम्पर्येण।' वही, पृ० ३६।
७. 'देवीभ्यो राज्ञा देया भवन्ति पूर्वपुरुषक्रमात्।' वही, पृ० ४७। वंश-परम्परा के लिए 'कुलमिति' शब्द भी प्रयुक्त किया गया है। दे० वही, पृ० १०० का अन्तिम शब्द।

पर पूर्वकाल का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है और कहा है कि सम्प्रति थोड़ा सुना हुआ विद्यमान है।[1]

हरिहर प्रबन्ध में तो राजशेखर चुनौतीपूर्ण शब्दों में कहता है कि यदि विश्वास न हो तो परिपाटी के अनुसार सुनिये।[2] आभड़ प्रबन्ध में वह आलोचना करता है कि अजयपाल प्राचीन कालीन चैत्य-परिपाटी का उपहास करने लगा।[3] सातवाहन प्रबन्ध में प्रबन्धकार राजशेखर कहता है कि कुपित राजा के आदेश पर शूद्रक को सूली पर चढ़ाये जाने के लिये देश-रीति के अनुसार शकट (रथ) आदि से ले जाया गया।[4]

उसी प्रबन्ध में राजशेखर दो पुनीत सामाजिक परम्पराओं का उल्लेख करता है। एक तो जब रानी चन्द्रलेखा के पुत्र उत्पन्न हुआ, राजा को चारों ओर से 'वर्द्धापनिका' (वंशवृद्धि-प्रशंसा-बधाई) प्राप्त हुई।[5] दूसरे जब विवाह हो रहा था तब वर-वधू के बीच देश-परम्परा से यवनिका डाली गयी।[6] राजशेखर द्वारा ग्राह्य परम्परा का सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण सातवाहन प्रबन्ध में प्राप्त होता है, जहाँ वह भ्रान्त या विरोधी परम्परा को भी ग्रहण करता है क्योंकि राजशेखर की इतिहासप्रियता का प्रमाण विरोधी परम्पराओं को भी अपने ग्रन्थ में समाहृत करना है। उसी सातवाहन-प्रबन्ध में वह न केवल सातवाहनों की परम्परा की चर्चा करता है अपितु एक सातवाहन राजा के समीकरण का प्रयास भी करता है।[7] उसकी स्वीकारोक्ति है कि उसका वर्णन प्राचीन गाथा से भिन्न है। वह कहता है कि "ऐसा प्राचीन गाथा के विरोध प्रसङ्ग से है। सातवाहन के पश्चात् सात-

---

१. 'सम्प्रति अल्पश्रुतं वर्तते।' वही, पृ० ५३।
२. 'यदि तु प्रत्ययो नास्ति तदा परिपाट्या श्रूयताम्।' वही, पृ० ५९।
३. 'पूर्वमेते चैत्यपरिपाटीमकार्षुरित्युपहासात्।' वही, पृ० ९८।
४. 'ततो नृपतिस्तस्मै कुपितः शूलारोपणमाज्ञापयत्। तदनु देशरीति-वशात् "शकटे शाययित्वा""।' वही, पृ० ७०।
५. 'नतमोऽपि वर्द्धापनिका दत्ताः क्ष्मापालेन।' वही, पृ० ७३।
६. 'देशानुरोधाद्वधूवरयोरन्तराले जवनिका दत्ता।' वही, पृ० ७४।
७. 'सोऽन्यः सातवाहन इति सम्भाव्यते।' वही, पृ० ७४।

वाहन और सातवाहन के क्रम में सातवाहन का होना यह विरुद्ध नहीं हैं। भोजपद पर बहुत से लोग भोजत्व को, जनक पद पर बहुत से लोग जनकत्व को प्राप्त हुए, ऐसी रूढ़ि है।" राजशेखर ने तो विरोधी-परम्परा का यहाँ तक निर्वाह किया है कि जो वृत्तान्त जैन-सम्मत नहीं थे उसने उनका भी वर्णन किया है और इस सम्बन्ध में वह कहता है कि देव-जातीय नाग के साथ मानव का विवाह होना असम्भव है।[2] अतः इस सम्बन्ध में यह जानना आवश्यक है कि परम्पराओं के भाव भिन्न-भिन्न हो सकते है क्योंकि राजशेखर की यह स्वीकारोक्ति है कि कुछ परम्पराएँ सर्वथा भ्रान्त या विरोधी हो सकती हैं।

इस प्रकार राजशेखर ने विविध परम्पराओं को आत्मसात् करके प्रबन्धकोश का प्रणयन किया है क्योंकि ऐतिहासिक विद्वत्ता तो परम्पराओं एवं मापदण्ड की खोज में लीन रहती है जिसके अनुसार ही ग्रन्थ की रचना और उस रचना का मूल्यांकन होता है।[3]

(३) कालक्रम

परम्परा की तरह कालक्रम भी इतिहास-दर्शन की एक कसौटी है क्योंकि कालक्रम इतिहास का नेत्र है। यह समय का एक मापदण्ड

---

१. इति चिरन्तनगाथाविरोधप्रसङ्गात्। न च सातवाहनक्रमिकः। सातवाहन इति विरुद्धम्। भोजपदे बहूनां भोजत्वेन, जनकपदे बहूनां जनकत्वेन रूढ़त्वात्। वही।
राजशेखर ने वङ्कचूल प्रबन्ध में 'रूढ़' शब्द का प्रयोग भी इसी प्राचीन परम्परागत अर्थ में किया है 'तीर्थतया च रूढ़ं तत।' वही, पृ० ७६।
वास्तव में जनरीतियों (Folk-ways) और रूढ़ियों (Mores) में अन्तर होता है। जनरीतियाँ समाज में मान्यता प्राप्त व्यवहार करने की पद्धति हैं और रूढ़ियाँ ऐसी जनरीतियाँ हैं जिन्हें समूह कल्याणकारी, उचित व उपयोगी समझता है तथा उनके उल्लंघन पर दण्ड देता है।

२. 'इयं च कथा जैनानां न सम्मताः, देवजातीयैर्नागैः सह मानवानां विवाहासम्भवतः।' वही, पृ० ८८।

३. डाइचेज डेविड : क्रिटिकल ऐप्रोचेज टू लिटरेचर, लौंगमैन्स, १९६४, पृ० ३२१।

और गणना-पद्धति भी है ।[१] 'सूर्य-सिद्धान्त' के अनुसार 'लोकानामन्तकृत्काल: कालोऽन्य: कलनात्मक:' अर्थात् काल लोगों का अन्त करने वाला है; दूसरा काल कलनात्मक है ।[२] 'काल' शब्द 'कल्' धातु से उद्भूत है जिसका अर्थ हुआ गणना या मापन करना । अत: इसका मौलिक प्रयोग मापन के साधन के रूप में होता था । व्यावहारिक दृष्टि से काल-मापन करने और शुद्धकाल का ज्ञान रखने की रीति जानना अतीव आवश्यक है क्योंकि केवल काल सत्य है । गीता में 'काल' को अविनाशी कहा गया है । राजशेखर ने भी कहा है कि यह काल अतिशय शक्तिमान है ।[३]

प्राचीन भारत में काल-मापन के लिये कई संवत्सर प्रयुक्त किये जाते रहे । वीर संवत् महावीर निर्वाण के समय ५२७ ई० पू० से, विक्रम संवत् विक्रमादित्य की शक विजय के समय ५७ ई० पू० से और शक संवत् सम्राट् शालिवाहन द्वारा ईस्वी सन् के ७८ वर्ष बाद प्रचलित माना जाता है ।[४] राजशेखर लिखता है कि सातवाहन ने भी क्रमश: ऋणमुक्त होकर दक्षिणापथ से लेकर उत्तर में ताप्तीपर्यन्त विजय की और अपना संवत्सर प्रवर्तित किया ।[५] इसमें विक्रम संवत् धर्म-निरपेक्ष एवं सर्वाधिक प्रसिद्ध भारतीय संवत् है जो विगत २००० वर्षों से भारत के अधिकांश भागों में प्रयुक्त होता रहा है ।[६] हरिभद्र (७३५ ई०), वीरसेन (७८० ई०) तथा उसी समय के अकलंकचरित में विक्रमसंवत् का प्रयोग हुआ है । दसवीं और ग्यारहवीं

---

१. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, जि० ५, १९५९, पृ० ६५३ ।

२. सिंह, अवधेशनारायण : काल तथा कालमान, श्रीसम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, काशी, १९५०, पृ० २२३ ।

३. 'निरतिशय' कालोऽयम् ।' प्रको, पृ० ५३ ।

४. दे० शुक्ल, वेणी प्रसाद : विक्रम संवत्, ना० प्र० पत्रिका, भाग १४, वि० सं० १९९०, पृ० ४४९ । वि० सं० के प्रवर्तन के सम्बन्ध में मार्शल, फ्लीट, भण्डारकर, स्मिथ, फर्ग्युसन आदि द्वारा कई सिद्धान्त पेश किये गए हैं । दे० विजउ तथा जैनगो, पृ० ६७-६८ ।

५. प्रको, पृ० ६८ ।

६. जैनगो, पृ० ५५ ।

शताब्दियों के अनेक जैन लेखक अपनी तिथियाँ इसी संवत् में प्रदान करते हैं।[1] मेरुतुङ्ग विक्रम और शक् संवत् में १३५ वर्षों का स्पष्ट अन्तर बतलाता है जिसका अनुमोदन अल्बीरुनी तथा नवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों के अभिलेख करते हैं जो विक्रम और शक संवतों का साथ-साथ वर्णन करते है।[2] जैन लेखकों में वीर संवत् का भी प्रचलन है। परन्तु राजशेखर सूरि ने अधिकाधिक विक्रम संवत्सर और कहीं-कहीं वीर संवत् का प्रयोग किया है। उसने प्रवन्धकोश में घटनाओं का वर्णन करते हुए 'कालक्रमेण' (कालक्रम से)[3] शब्द का कई वार प्रयोग किया है जो उसकी काल-अवधारणा का द्योतक है। प्रवन्धकोश में दो स्थलों पर जो ऐतिहासिक क्रम प्रदान किया गया है, वह राजशेखर की कालक्रमीय अवधारणा को पुष्ट करता है। वस्तुपाल प्रबन्ध में वह कहता है कि संसार में स्त्री-जाति ही धन्य है जिनके गर्भ से जिन, चक्रवर्ती, अर्द्धचक्रवर्ती, नल, कर्ण, युधिष्ठिर, विक्रम, सातवाहनादि उत्पन्न हुए।[4] ग्रन्थान्त में सपादलक्षीय चाहमान वंशावली में ३७ राजाओं का क्रमानुसार उल्लेख है जिसमें भी ऐतिहासिक क्रम उचित है।[5]

कालक्रम केवल संवत्सर या तिथि नहीं है अपितु यह काल-मापन भी है। 'यह महत्वपूर्ण घटनाओं को कालानुसार व्यवस्थित करने वाला और उनके मध्यान्तरों को सुनिश्चित करने वाला शास्त्र है जो इतिहास का ढाँचा तैयार करता है।'[6] राजशेखर ने अपने इतिहास-

---

१. वही, पृ० ५६-५७।

२. दे० 'विचारश्रेणी'; अल्बीरूनी का भारत, (सम्पा०) सचऊ, लन्दन, १९१४; अध्याय २, पृ० ४९; इपि० इण्डि०, १९ वाँ, पृ० २२; उत्तर भारत का अभिलेख, सं० १३४; ८६२ ई० के देवगढ़ जैन स्तम्भ अभिलेख के लिये दे० इपि० इण्डि०, चतुर्थ, सं० ४४, पृ० ३०९-३१०।

३. प्रको, पृ० ७६ व पृ० ७७।

४. वही, पृ० १०१।

५. वही, पृ० १३३-१३४।

६. रेनियर : हिस्टरी : इट्स परपज ऐंड मेथड, लन्दन, १९५६, पृ० ११२, पृ० १७६।

दर्शन में कालक्रम की एक सुनिश्चित पद्धति को विकसित किया। राजशेखर के स्थूल कालक्रम का नमूना ग्रन्थारम्भ में प्राप्त होता है जहाँ उसने यह कहा है कि महावीर ने अपने समय में जनता को धनदान देकर सफल मनोरथ किया।[1] जीवदेवसूरि प्रबन्ध में प्रबन्धकार महत्वपूर्ण सूचना देता है कि एक समय उज्जयिनी में विक्रमादित्य ने संवत्सर प्रवर्तन किया।[2] कहीं-कहीं राजशेखर ने भिन्न-भिन्न घटनाओं के लिये कोई संवत्सर या तिथि न देकर 'सातवें दिन', 'सप्ताह मात्र', 'छठे मास', 'छः वर्ष की आयु' आदि की गोल-मोल संख्या स्थूल रूप से प्रयुक्त कर काल-मापन का प्रयास किया है।[3]

राजशेखर चापोत्कट-वंश की शासनावधि की भी सही-सही गणना करता है। वह कहता है कि चापोत्कटवंश के वनराज आदि ७ राजाओं ने १९६ वर्षों तक गुजरात पर शासन किया।[4] इस कालक्रम की पुष्टि मेरुतुङ्ग द्वारा प्रदत्त सूचना से हो जाती है, जहाँ लिखा है कि सातों राजाओं ने वि० सं० ८०२ (७४५ ई०) से वि० सं० ९९८ (९४१ ई०) तक १९६ वर्ष शासन किया।[5] इस प्रकार राजशेखर का यह कालक्रम भी सही प्रतीत होता है। राजशेखर ने काल-मापन का एक सामान्य प्रयास और किया है, जब वह कहता है कि श्रेष्ठिनी पद्मयशा चैत्यपूर्णिमा को उपवास किया करती थीं।[6] प्रबन्धकोश के अन्त में वह स्थूल रूप से कहता है कि वस्तुपाल और तेजपाल के क्रिया-कलाप अट्ठारह वर्षों तक चलते रहे।[7] राजशेखर ने काल-मापन में कभी-कभी 'अद्यपि' तथा 'एवं वर्तमाने काले' के भी ऐसे

---

१. 'अर्थेन प्रथमं कृतार्थमकरोद् यो वीरसंवत्सरे।' प्रको, पृ० १

२. 'अथान्यदोज्जयिन्यां विक्रमादित्येन वत्सरः प्रवर्तयितुमारेभे।' वही, पृ० ८

३. दे० वही पृ० ३, ४, २२, २३, २६।

४. 'इयं गुर्जरधरा वनराजप्रभृतिभिर्नरेन्द्रैः सप्तभिश्चापोत्कटवंश्यैः षण्णवत्यधिकं शतं वर्षाणां भुक्ता।' वही, पृ० १०९

५. प्रचि, पृ० १४-१५; तथा दे० पाहिस्टाइजैमो, पृ० २०६ व आगे।

६. दे० प्रको, पृ० ५।

७. वही, पृ० १२० व पृ० १२२।

प्रयोग किये हैं जिनसे उसके काल के समकालिक इतिहास की झलक मिल जाती है।[१]

समाज में काल-मापन ऐतिहासिक परिवर्तनों के साथ विकसित और परिवर्तित होता रहता है। पहले-पहल काल का मापन प्राकृतिक घटनाओं के आधार पर होता था। कालान्तर में प्रसिद्ध राजाओं के राज्यकाल अथवा किसी विशिष्ट व्यक्ति के क्रिया-कलापों से काल-गणना की जाने लगी। उदाहरण के लिये राजशेखर वस्तुपाल के मन्त्री-पद के गौरव का वर्णन करने के बाद कहता है--"तत्पश्चात् विक्रमादित्य से १२९८ वर्ष व्यतीत हो गये।"[२] तदनुसार १२४१ ई० की तिथि प्राप्त होती है जो राजा विक्रमादित्य के राज्य-काल से गणना करके निकाली गयी है।

राजशेखर ने महावीर के निर्वाण-काल (५२७ ई० पू०) को भी आधार माना है।[३] राजशेखर ने वीर संवत्सर का प्रयोग करते हुए कहा है कि श्रीवीर के मोक्षगमन से ६४ वर्ष पश्चात् चरमकेवली जम्बू स्वामी को सिद्धि प्राप्त हुई और स्थूलभद्र को स्वर्ग गये १७० वर्ष व्यतीत हुए।[४] महावीर का मोक्षगमन ५२७ ई० पू० मानने से जम्बू स्वामी की सिद्धि-प्राप्ति (मोक्ष) तिथि ४६३ ई० पू० ठहरती है। स्थूलभद्र के स्वर्ग-गमन की तिथि उसके १७० वर्षों बाद २९३ ई० हो जाती है। सातवाहन प्रबन्ध में राजशेखर ने कालक्रम का तुलनात्मक वर्णन किया है कि महावीर की मृत्यु के ४७० वर्ष बाद (तदनुसार ५२७ ई० पू० = ४७० + ५७ ई० पू०) विक्रमादित्य राजा हुआ। राजशेखर कहता है कि तत्कालीन सातवाहन राजा उसी प्रतिपक्ष में उत्पन्न हुआ।[५] राजशेखर द्वारा विक्रमादित्य को प्रदत्त ५७ ई० पू०

१. वही, पृ० ३६ व पृ० ४२।

२. वही, पृ० १२७।

३. दे० कल्याणविजय : वीर निर्वाण संवत् और जैन काल-गणना, ना० प्र० पत्रिका, भाग १०, सं० १९८६, पृ० ५८४ और आगे।

४. प्रको, पृ० ५३।

५. "श्रीवीरे शिवं गते ४७० विक्रमार्को राजा तत्कालीनोऽयं सातवाहन-स्तत्प्रतिपक्षत्वात्।" विक्रमादित्य की ५७ ई० की तिथि के लिये दे० विक्रउ।

सही है, जिसके साथ ही साथ वह महावीर की मृत्यु और विक्रमादित्य के राज्यारोहण के बीच ४७० वर्ष का जो अन्तराल बताता है वह भी सटीक है।

राजशेखर के कालक्रम की एक विशेषता यह भी है कि उसने महावीर-निर्वाण के अतिरिक्त नेमि-निर्वाण को काल-मापन का आधार माना है। वह कहता है कि "नेमिनाथ के निर्वाण से आठ सहस्र वर्ष व्यतीत हो चुके थे। उसी समय पट्टमहादेव नामक अतिशय ज्ञानी नवहुल्लपत्तन (नौशहरा, कश्मीर) में रहते थे।"[1] राजशेखर ने यहाँ पर काल-मापन में त्रुटि की है और अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया है। आठ सहस्र वर्ष वाला कालक्रम आलोच्य है।[2]

राजशेखर मल्लवादि प्रबन्ध में वलभीभङ्ग की ३७५ वि० सं० (३१८ ई०) तिथि प्रदान करता है।[3] यह तिथि विश्वसनीय नहीं प्रतीत होती है क्योंकि चौथी शताब्दी में अरबी या तुर्क म्लेच्छ भारत में नहीं आये थे।[4] वलभी-भंग की घटना खलीफा हारुन रशीद के गद्दी पर बैठने (७८९ ई०) के बाद हुई होगी जिसने सलीम यूनूसी को अलमंसूर (सिंध की अरब राजधानी) का गवर्नर नियुक्त किया था जो चार वर्षों (७८६-९० ई०) तक गवर्नर रहा भी था। अतः म्लेच्छ राजा की पहचान सलीम यूनूसी से ही की जानी चाहिये। इस तरह वि० सं० ८४५ (७८८ ई०) में वलभी-भंग हुआ, यह एक

---

१. प्रको, पृ० ९२।

२ दे० पूर्ववर्णित अध्याय ५, ऐति० तथ्य, रत्नश्रावकप्रबन्ध।

३. प्रको, पृ० २३, सम्पा० जिनविजय की भूल से मूल के कोष्ठक में ५७३ लिखा है, जो गलत है। तुलना कीजिये प्रचि, पृ० १०८-१०९; पुप्रस, पृ० ८३; विती्थ, पृ० २९।

४. वाल्हीक-यवन, शक, पह्लव, कुषाण आदि की पहचान म्लेच्छराज से नहीं की जा सकती है, क्योंकि इनके आक्रमणों के बाद ही ३१८ ई० तक गुप्त-साम्राज्य की नींव पड़ चुकी थी। इसमें सन्देह नहीं कि लिच्छवियों को मनु-संहिता में व्रात्य-क्षत्रिय (निम्नकोटि का क्षत्रिय) और कौमुदी महोत्सव (३४० ई०) में म्लेच्छ कहा गया है, फिर भी लिच्छवि म्लेच्छ नहीं हैं। प्रायः मुसलमानों को ही म्लेच्छ कहा जाता रहा है।

ऐतिहासिक तथ्य है।[1]

परन्तु राजशेखर ने वप्पभट्टिसूरि प्रबन्ध, वस्तुपाल प्रबन्ध तथा ग्रन्थकार प्रशस्ति में जो तिथियाँ प्रदान की है वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म कालक्रम के नमूने हैं। इनमें संवत्सर, मास, पक्ष, तिथि, नक्षत्र और वार तक दिये हुए हैं। वप्पभट्टिसूरि प्रबन्ध मे ऐसी सूक्ष्म रीति से वह तीन तिथियों के उल्लेख करता है। वह कहता है कि वप्पभट्टिसूरि का जन्म विक्रमादित्य से ८०० वर्ष (तदनुसार ७४३ ई०) बीत जाने पर भाद्रपद शुक्ल तृतीय रविवार के हस्त-नक्षत्र मे हुआ।[2] विक्रमादित्य के काल से आठ सौ संवत्सर से सात अधिक (वि० सं० ८०७ तदनुसार ७५० ई०) व्यतीत हो जाने पर वैशाख माह शुक्ल पक्ष तृतीया गुरुवार को सिद्धसेनाचार्य सूरपाल (वप्पभट्टि) को लेकर मोढेरक गये[3] तथा विक्रम संवत् में आठ सौ पर ग्यारह (वि० सं० ८११ तदनुसार ७५४ ई०) बीत जाने पर चैत्य माह कृष्ण पक्ष की अष्टमी के दिन वप्पभट्टिसूरि हुए।[4] ये दोनों तिथियाँ सही प्रतीत होती हैं क्योंकि एक तो इनमे वर्ष, माह, पक्ष, तिथि और वार तक के सूक्ष्म उल्लेख हैं जिससे कम से कम संवत्सर के त्रुटिपूर्ण होने की कम सम्भावना है और दूसरे प्रभावकचरित द्वारा प्रदत्त सूक्ष्म कालक्रम से उक्त दूसरी व तीसरी तिथियों का अनुमोदन हो जाता है।[5] पहली तिथि की भी

---

१. जैपइ, पृ० ३९३-४०० मे इसी तिथि को मान्यता दी गयी है। विस्तृत विवरण के लिए दे० इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, १९४७ भी।

२. "श्रीवप्पभट्टिसूरीणां श्रीविक्रमादित्यादष्टशतवर्षेषु गतेषु भाद्रपदे शुक्ल तृतीयायां रविदिने हस्तर्क्षेजन्म ...... ।" प्रको, पृ० ४५।

३. "शताष्टके वत्सराणां गते विक्रमकालतः ।
सप्ताधिके राधशुक्लतृतीयादिवसे गुरौ ॥"
प्रको, पृ० २७ तुलना कीजिये प्रभाच, पृ० ८०, श्लोक २८।

४. "एकादशाधिके तत्र जाते वर्षशताष्टके ।
विक्रमात्सो भवत्सूरिः कृष्णचैत्राष्टमीदिने ॥"
प्रको, पृ० २९ तुलना कीजिये प्रभाच, पृ० ८३, श्लोक ११५।

५. दे० पूर्वोक्त टि० १२१ व १२२।

विश्वसनीयता बढ़ जाती है क्योंकि उक्त तिथि का वर्णन करने के तत्काल बाद राजशेखर ने वप्पभट्टि के स्वर्गारोहण का स्थूल कालक्रम दिया है। वह कहता है कि तब से पञ्चानवे वर्ष अधिक हो जाने पर (तदनुसार ८३८ ई० में) वप्पभट्टि ने स्वर्गारोहण किया।[1] यदि राजशेखर को कोई कल्पित कालक्रम देना होता तो वप्पभट्टि की जन्म-तिथि की तरह निधन-तिथि का भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन कर देता। इससे सिद्ध होता है कि राजशेखर को केवल वही सूक्ष्म तिथियाँ देना अभीष्ट था जिनका उसे सटीक ज्ञान था।

राजशेखर ने सूक्ष्म कालक्रम का दूसरा उदाहरण वस्तुपाल प्रबन्ध में प्रस्तुत किया है। ज्वर से पीड़ित वस्तुपाल कहता है— "मलधारी नरचन्द्र सूरि का निधन भाद्रवदि १० के दिन संवत् १२८७ (तदनुसार १२३० ई०) में हुआ था। स्वर्ग-गमन के समय हम लोगों से कहा था कि आप १२९८ वर्ष (तदनुसार १२४१ ई०) में स्वर्गारोहण करेंगे।"[2] वस्तुपाल के निधन की उक्त तिथि (१२९८ वि० सं०) को राजशेखर ने बल प्रदान किया है क्योंकि उक्त तिथि के सम्बन्ध मे नरचन्द्रसूरि ने पूर्व-घोषणा कर दी थी जिनकी वाणी में सिद्धि-सम्पन्नता रही। किन्तु समकालीन साक्ष्य वसन्त-विलास में निधन-तिथि वि० सं० १२९६ (तदनुसार १२३९ ई०) दी गयी है[3] जो सही प्रतीत होती है।[4] १३०८ विक्रम वर्ष (तदनुसार १२५१ ई०) में तेजपाल भी स्वर्ग चले गये।[5]

सूक्ष्म कालक्रम का तीसरा नमूना ग्रन्थकार-प्रशस्ति में प्राप्त होता है। राजशेखर कहता है कि "शरगगनमनुमिताब्दे (१४०५) में

1. "पञ्चनवत्यधिकेषु तेषु गतेषु स्वर्गारोहणम्।" प्रको, पृ० ४१।
2. "श्रीनरचन्द्रसूरिभिर्मलधारिभिः संवत् १२८७ वर्षे भाद्रपदवदि १० दिने दिवंगमसमये वयमुक्ताः— मन्त्रिन्! भवता १२९८ वर्षे स्वर्गारोही भविष्यति।" वही, पृ० १२७-१२८
3. माओगी, सप्तम, सर्ग १४, पद्य ३७।
4. दे० पूर्ववर्णित अध्याय ५, ऐति० तथ्य — वस्तुपालप्रबन्ध।
5. दे० वही।

ज्येष्ठ मास[1] शुक्ल पक्ष की सप्तमी मूल नक्षत्र में यह शास्त्र रचा गया।" इस कालक्रम में दो विशेषताएँ हैं—एक तो यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म तिथि प्रदान करता है और दूसरे इस स्थल पर विशिष्ट भारतीय शैली में तिथि का वर्णन किया गया है। 'शरगगनमनुमिताब्दे' अर्थात् संवत्सर को विपरीत क्रम से पढ़ने पर मनु १४, गगन अर्थात् ० (शून्य) और शर ५ होते हैं। अतः ग्रन्थ-रचना की वि० सं० १४०५ की तिथि पर विश्वास करना ही पड़ेगा, क्योंकि यह स्वयं ग्रन्थकार द्वारा बड़ी सूझ-बूझ और आत्मविश्वास से प्रदान की गयी है।[2]

इस प्रकार प्रबन्धकोश में कालक्रम की चार पद्धतियाँ मिलती हैं—

(अ) अङ्क-पद्धति,

(ब) शब्द-पद्धति,

(स) शब्दाङ्क पद्धति और

(द) विशेष शैली पद्धति।

इस ग्रन्थ में कुछ कालक्रमीय सूचनाएँ अङ्कों में एवं गद्य रूप में मिलती हैं। अङ्क-पद्धति वाली तिथियाँ कालक्रम के व्यावहारिक पक्ष का निरूपण करती हैं। परन्तु प्रबन्धकोश में कुछ तिथियाँ शब्दों में एवं पद्य रूप में भी मिलती हैं जो कालक्रम के सैद्धान्तिक पक्ष का निरूपण करती हैं। कुछ ऐसी तिथियाँ भी मिलती हैं जो शब्दों और अङ्कों दोनों में एक साथ दी गयी हैं। वस्तुपाल प्रबन्ध में कालक्रम की तृतीय पद्धति का अनुगमन किया गया है[3] और ग्रन्थकार प्रशस्ति में विशेष शैली पद्धति का अनुसरण किया गया है।[4] हिन्दू काल-गणना में प्रत्येक संख्या के लिए पृथक् शब्द का प्रयोग किया जाता है।[5]

---

१. "शरगगनमनुमिताब्दे (१४०५) ज्येष्ठामूलीयधवलसप्तम्याम्। निष्पन्नमिदं शास्त्रं ....।" प्रको, पृ० १३१।

२. दे० पूर्ववर्णित अध्याय ३, ग्रन्थ-रचना काल।

३. दे० प्रको, पृ० ११८।

४. दे० वही, पृ० १३१।

५. जी० एच० दामन्त : इण्डि० एण्टि०, जि० ४, जनवरी, १८७५, पृ० १३। दामन्त लिखते हैं कि तिथियों को दाहिने से बाएँ पढ़ना चाहिये। उन्होंने रंगपुर के योर्घोनकुटि मन्दिर में एक तिथि को खोजा

एक शब्द कभी-कभी दो संख्याओं का भी बोध कराता है, जैसे — 'शरगगनमनुमिताब्दे' में मनु १४ का बोध कराता है। इस प्रकार की कालगणना पद्धति का अनुसरण मेरुतुङ्ग ने नहीं किया है, परन्तु राजशेखरसूरि ने किया है। इस प्रकार कालक्रम की चारों पद्धतियों का अस्तित्व यह प्रदर्शित करता है कि राजशेखर कालक्रमीय तथ्यों की सटीकता के प्रति अधिक सतर्क था।

राजशेखर ने कालक्रम के सम्बन्ध में कहीं-कहीं अत्यधिक सावधानी बरती है और विक्रमी संवत्सर को शब्दों और अङ्कों दोनों में एक साथ प्रदान किया है। राजशेखर चर्चा करता है कि "साधु पूनड ने शत्रुञ्जय की यात्रा बारह सौ तिहत्तर (१२७३) में वम्बेरपुर से तथा बारह सौ छियासी (१२८६) में नागपुर से आरम्भ की थी।"[1] साधु पूनड़ की शत्रुञ्जय-यात्रा के सम्बन्ध में शब्दों और अङ्कों दोनों में एक साथ तिथियाँ प्रदान की गयी हैं परन्तु आदिनाथ की प्रतिष्ठा-तिथि केवल शब्दों में दी गयी है। "विक्रमादित्य से एक-सहस्र के ऊपर अट्ठासी वर्ष व्यतीत हो जाने पर चार सूरियों द्वारा आदिनाथ की प्रतिष्ठा की गयी।"[2] यहाँ पर राजशेखर ने जो शत्रुञ्जय तीर्थयात्रा की तिथि प्रदान की है, वह केवल शब्दों में है जो वि० सं० १०८८ तदनुसार १०३१ ई० हुई। फलतः राजशेखर द्वारा प्रदत्त अधिकांश कालक्रम साहित्यिक व अभिलेखीय स्रोतों से प्राप्त विवरणों से प्रायः मेल खाते हैं। जब इन तिथियों का किसी अन्य ग्रन्थ की तिथियों से साम्य हो तो हमें ऐतिहासिक दृष्टि से इन्हें सही मान लेना चाहिये।

है। ये शब्द "युग-दहन-रस-क्षमा है, जो १६३४ की तिथि प्रदान करते हैं, क्योंकि क्षमा = पृथ्वी १, रस ६, दहन = कृत्तिका नक्षत्र ३ और युग ४ है।"

१. "तेन प्रथमं श्रीशत्रुञ्जयं यात्रा त्रिसप्तत्यधिकद्वादशशतवर्षे (१२७३) वम्बेरपुरात् विहिता। द्वितीय सुरत्राणादेशात् षडशीत्यधिके द्वादशशत-वत्सरे (१२८६) वर्षे नागपुरात्समारब्धा।" प्रको, पृ० ११८।

२. "विक्रमादित्यात् सहस्रोपरि वर्षाणामष्टाशीतौ गतायां चतुर्भिः सूरिभिरादिनाथं प्रतिष्ठितः।" वही, पृ० १२१।

अन्त में राजशेखर पाँच बहुमूल्य तिथियाँ प्रदान करता है। वह बताता है कि वि० सं० ६०८ (५५१ ई०) राजा वासुदेव सपादलक्षीय चाहमान वंश में हुआ। किन्तु इस तिथि की प्रामाणिकता सिद्ध करने का कोई पक्का तुलनात्मक साधन नहीं है। वीर पृथ्वीराज (तृतीय) जो सपादलक्ष का चाहमानवंशीय राजा था उसने सं० १२३६ (११७८ ई०) में राज्य सँभाला और १२४८ (११९२ ई०) में मृत हुआ।[1] यह तिथि आज तक सर्वमान्य है। सपादलक्ष के चाहमानवंशीय ३७वें और अन्तिम राजा हम्मीरदेव ने सं० १३४२ (१२८५ ई०) में राज्य सँभाला और १३५८ (१३०१ ई०) में युद्धक्षेत्र में मृत हुआ।[2] राजशेखर द्वारा प्रदत्त तिथि तो सही है परन्तु हम्मीरदेव सपादलक्ष का चाहमान न होकर रणथम्भौर का चाहमान था।

राजशेखर द्वारा प्रदत्त तिथियों के कई गुण है। प्रथमतः तिथियों के सम्बन्ध में वह वीर तथा विक्रम संवत्सर दोनों पद्धतियों को अपनाता है। अपने समय से लगभग हजार वर्षों की दूरी से वह कालक्रमीय सूचना प्राप्त करता है। हम लोगों को उससे यह आशा नहीं करनी चाहिये कि वह यह बताए कि उसने कालक्रमीय तथ्यों को कहाँ से एकत्र किया है। तृतीयतः राजशेखर द्वारा प्रदत्त तिथियों में सटीकता है। चापोत्कट वंशावली चालुक्यराज वंशावली और सपादलक्षीय चाहमान वंश की राजवंशावली में यह सटीकता स्पष्ट दीख पड़ती है। कालक्रम में संवत्सर, मास, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्र आदि जैसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण दिये रहते हैं। अन्ततः राजशेखर अनैतिहासिक कालक्रम को अपनाता ही नहीं। उसने कोई भी कल्पित या गढ़ी हुई तिथि प्रदान नहीं की है। वृद्धवादि-सिद्धसेन के बारे में वह लिखता तो अत्यन्त विस्तार से है किन्तु एक भी तिथि नहीं देता है। यह उसकी ईमानदारी का प्रतीक है।

कालक्रम के बिना भारत के न तो अतीत की और न वर्तमान की कल्पना सम्भव है। जितनी ही तिथियाँ हम प्राप्त करते जाएँगे उतने

---

१. दे० वही, पृ० १३४।

२. संवत् १३४२ राज्यं। १३५८ युद्धे मृतः।

प्रको, पृ० १२४ तथा पाहिनाइजैमो, पृ० १४८।

ही मार्ग तय होते जायेंगे।[1] यदि राजशेखर द्वारा वीर संवत् में प्रदत्त विक्रमादित्य की तिथि (=५७ ई० पू०) को छोड़ दिया जाय तो प्रबन्धकोश ने वि० सं० ३७५ (=३१८ ई०) से वि० सं० १४०५ (=१३४९ ई०) तक लगभग एक हजार तीस वर्षों की औसतन कालक्रमीय अवधि को सम्पूर्ण किया है, जिसके लिए प्रबन्धकार का प्रयास स्तुत्य है। कालक्रमीय दृष्टिकोण से प्रबन्धचिन्तामणि के बाद प्रबन्धकोश ही अन्य सुलभ जैन-प्रबन्धों में अकेला ऐसा उदाहरण है जो प्रायः सही और सूक्ष्म तिथियाँ प्रदान करता है। यद्यपि प्रबन्धकोश की कतिपय तिथियाँ कुछ महीनों या दिनों की गणना में त्रुटिपूर्ण हैं, तथापि यह सहज निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राजशेखर जैन प्रबन्धकारों में प्रथम लेखक हैं जिसने कालक्रम को इतिहास का एक अभिन्न अंग माना है और उसका निर्वाह भी किया है।

अतः स्रोत, साक्ष्य, कारणत्व, परम्परा और कालक्रम की कसौटी पर राजशेखर का प्रबन्धकोश खरा उतरता है और उसके इतिहास-दर्शन की झलक मिल जाती है।

●

---

१. स्टीन, ओटो : प्रस्तावित नोट, द जिनिस्ट स्टडीज, (सम्पा०) जिनविजय, अहमदाबाद, १९४८, पृ० सातवीं।

तुलनात्मक अध्ययन

तुलनात्मक अध्ययन में एक कृति की उसी भाषा या अन्य भाषा की दूसरी कृतियों से तुलना की जाती है जिससे एक ग्रन्थ के गुणों का ज्ञान दूसरे ग्रन्थों का अध्ययन करने से बढ़ जाता है। तुलना करने का आशय है गुण, आकार, विचार, अवतरण आदि की समता और विषमता दोनों का मूल्यांकन करना।[1] पाश्चात्य विद्वान् टॉनी ने जैन-प्रबन्धों की जैन-धर्म के प्रति रुझान की आलोचना की है। टॉनी के मतानुसार जैन-प्रबन्धकारों से थ्यूसीडिडियन इतिवृत्त अथवा टैसिटस जैसी परिपक्व बुद्धिमत्ता की आशा करना व्यर्थ है। उसने जैन इतिवृत्तकारों को मध्ययुग के यूरोपीय एवं अरबी इतिवृत्तकारों से नीचे स्थान प्रदान किया है।[2]

भारतीय इतिहास ग्रन्थों और इतिहासकारों पर इस आक्षेप के दो उत्तर हैं। एक तो धर्म की महत्ता का वर्णन दोष नहीं मानना चाहिये, क्योंकि जिस युग में इनकी रचना हुई वह युग ही ऐसा था। ब्राह्मण, शैव, मुसलमान और ईसाई ग्रन्थकारों ने भी यही किया। दूसरे, ये पश्चिमी विद्वान् मध्ययुगीन यूरोपीय व अरबी इतिवृत्तों के विषय में अधिक जानते थे, जबकि उस समय तक न तो पश्चिमी संसार के सामने अधिकांश जैन-प्रबन्ध प्रकाश में आये थे और न उन पर अधिक शोध-कार्य हुए थे। किन्तु इस आक्षेप का सही प्रत्युत्तर तब ही दिया जा सकता है जब प्रबन्धकोश की अन्य जैन-प्रबन्धों, ब्राह्मण इतिहास ग्रन्थों, मुस्लिम, अरबी और ईसाई ग्रन्थों से तुलना की जाय।

समान विषयक अन्य ग्रन्थों से प्रबन्धकोश की तुलना

"विस्तृत जैन-इतिहास की रचना के लिये जिन ग्रन्थों में से विशिष्ट सामग्री प्राप्त हो सकती है उनमें — (१) प्रभावकचरित्र,

१. फाउलर ऐण्ड फाउलर : द कॉन्साइज ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ऑफ़ करेण्ट इंग्लिश, बम्बई, १९८३, पृ० १९१।

२. प्रचिटा, प्रस्तावना, पृ० पष्ठ।

(२) प्रबन्धचिन्तामणि, (३) प्रबन्धकोश और (४) विविधतीर्थकल्प — ये ४ ग्रन्थ मुख्य हैं। ये चारों ग्रन्थ परस्पर बहुत-कुछ समान-विषयक हैं और एक-दूसरे की पूर्ति करने वाले हैं।"[1] जैनधर्म के ऐतिहासिक प्रभाव को प्रकट करने वाले प्राचीनकालीन प्रायः सभी प्रसिद्ध व्यक्तियों का थोड़ा-बहुत परिचय इन चार ग्रन्थों के संकलित अवलोकन और अनुसन्धान द्वारा हो सकता है। प्रबन्धकोश इन चारों में कालक्रम की दृष्टि से कनिष्ठ अर्थात् सबसे बाद का है और अपने पहले के इन तीनों प्रबन्धों का ऋणी है। इसके कई प्रकरण उक्त ग्रन्थों से शब्दशः उद्धृत किये गए है, कई तनिक भाषा या रचना में परिवर्तन करके लिखे गए हैं, कई पद्य से गद्य में अवतरित किये गए हैं और कुछ *प्रबन्ध स्वतन्त्र ढंग से मौलिक रूप में भी गूँथे गए हैं।*[2] *अतः यहाँ पर* उक्त प्रबन्ध ग्रन्थों की प्रबन्धकोश से तुलना की जायेगी, जिससे प्रबन्धकोश की प्रकृति, प्रणाली और इतिहास-दर्शन पर प्रकाश पड़ेगा।

(१) प्रभावकचरित

प्रभावकचरित (१२७७ ई०) को 'पूर्वर्षिचरित' भी कहते हैं। यह हेमचन्द्र के परिशिष्टपर्व का एक प्रकार से पूरक ग्रन्थ है। परिशिष्टपर्व में जम्बू से लेकर वज्रस्वामी तक चरित दिये गये हैं और प्रभावकचरित में वज्रस्वामी से हेमचन्द्र तक आचार्यों की जीवनियाँ दी गयी हैं। इसमें विक्रम की पहली शताब्दी से लेकर १३वीं शताब्दी तक बाईस आचार्यों के चरित वर्णित हैं।[3] उनमें प्राचीन आचार्यों में पादलिप्त, सिद्धसेन, मल्लवादी, हरिभद्रसूरि तथा बप्पभट्टि के चरित उल्लेखनीय हैं। उनमें हर्षवर्द्धन, प्रतीहार सम्राट् आम नागावलोक, भोज परमार, भीम (प्रथम), सिद्धराज, कुमारपाल आदि इतिहास-प्रसिद्ध राजाओं एवं बाण, वाक्पति, माघ, धनपाल, वीरसूरि, शान्तिसूरि आदि के भी विवरण हैं। इसमें हेमचन्द्राचार्य के विषय में दिया

१. प्रभाच, प्रा० वक्तव्य, पृ० १; विवीक, प्रा० निवेदन, पृ० १; प्रको, प्रा० वक्तव्य, पृ० १।

२. दे० प्रको, प्रा० वक्तव्य, पृ० २।

३. दे० प्रभाच, प्रा० वक्तव्य, पृ० ५; प्रको, प्रा० वक्तव्य, पृ० ६; भंगा-मूहलि, पृ० २०१।

गया चरित उनके विषय में उपलब्ध सभी चरितों से प्राचीन कहा जा सकता है। प्रबन्धकोश की भाँति प्रभावकचरित की सामग्री अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की कृतियों से तथा प्रचलित अनुश्रुतियों (आख्यानों) से ली गई है।

प्रभाचन्द्र ने अपने उद्देश्य में सम्पूर्ण सफलता प्राप्त की।[१] प्रभावकचरितकार का प्रधान उद्देश्य अपने समय से पहले के प्रभावशाली जैनाचार्यों का चरित्र-गुम्फन करना है।[२] ऐसा ही प्रबन्धकोशकार ने भी किया है। रचना की दृष्टि से प्रभावकचरित उच्चकोटि का है। इसकी भाषा प्रावाहिक और प्रासादिक है। वर्णन सुसम्बद्ध है। 'कवियों और प्रभावशाली धर्माचार्यों का ऐतिहासिक वर्णन करने वाला इस कोटि का और दूसरा ग्रन्थ समग्र संस्कृत साहित्य में उपलब्ध नहीं है।'[३] प्रभावकचरित वाद-विवाद प्रतिस्पर्द्धा, जैन तीर्थों एवं मन्दिरों का आविर्भाव जैन-समाज के विकास-क्रम तथा तथ्यपूर्ण इतिहास पर प्रकाश डालता है।[४]

प्रबन्धकोश की प्रधान-सामग्री प्रभावकचरित से ही एकत्रित की गई प्रतीत होती है। प्रबन्धकोश में भद्रबाहु, आर्यनन्दिल, जीवदेव, वृद्धवादि, आर्यखपट, पादलिप्त, सिद्धसेन, मल्लवादी, हरिभद्र, वप्पभट्टि और हेमचन्द्र सूरि के चरित संगृहीत हैं। प्रभावकचरित में दिये गए इन आचार्यों के चरितों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि राजशेखर के सम्मुख इन आचार्यों के चरितविषयक अन्य कोई संग्रह भी रहा होगा जिससे उन्होंने आचार्यविषयक प्रबन्धों के लिए कितनी सामग्री संगृहीत की है, क्योंकि इन आचार्यों के चरितों में कई ऐसी बातें हैं जो प्रभावकचरित में नहीं मिलती और प्रभावकचरित की कई बातें इसमें नहीं मिलतीं। प्रबन्धकोशकार ने प्रभावकचरित के २२ आचार्यों में से ९ आचार्यों को चुनकर अपने प्रबन्धकोश का विषय बनाया।

१. दे० प्रभाच, प्रा० वक्तव्य, पृ० ५।
२. दे० प्रको, प्रा० वक्तव्य, पृ० २।
३. वही, पृ० ६।
४. प्रभाच, प्रा० वक्तव्य, पृ० ६।

सातवाहन और नागार्जुन के कुछ विवरण पादलिप्तसूरि के चरितान्तर्गत मिलते हैं और कुछ विक्रमादित्य विषयक प्रसङ्ग वृद्धवादि सूरि प्रबन्ध में मिलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि राजशेखरसूरि ने प्रभावकचरित से यथेष्ट सामग्री ली है। राजशेखर ने जिन दस आचार्यों के वर्णन किये हैं, उनमें से नौ के विवरण प्रभावकचरित के आधार पर किये गए हैं। प्रथम प्रबन्ध भद्रबाहुवराह का वर्णन करते समय प्रभावकचरित की सहायता नहीं ली गयी है।

(२) प्रबन्धचिन्तामणि

वढवान (सुरेन्द्रनगर गुजरात) ने प्रबन्धचिन्तामणि का समापन १३०५ ई० में तथा दिल्ली ने प्रबन्धकोश का प्रणयन १३४९ ई० में देखा। "चाहे मेरुतुङ्गसूरि को इतिहास के आत्मा का दिव्य दर्शन हुआ हो या न हुआ हो, पर इसमें कोई शक नहीं कि उनका यह ग्रन्थ-लेखन, सचमुच इतिहास-दर्शन की एक अस्पष्ट पर सूक्ष्म कला के आभास का उत्तम सूचन करता है।"[१] ग्रन्थारम्भ में वह कहता है कि "बारम्बार सुनी जाने के कारण पुरानी कथायें बुद्धिमानों के मन को वैसा प्रसन्न नहीं कर पातीं। इसलिये मैं निकटवर्ती सत्पुरुषों के वृत्तान्तों से इस प्रबन्धचिन्तामणि ग्रन्थ की रचना कर रहा हूँ।"[२] ग्रन्थान्त में मेरुतुङ्ग का आशय है कि उसने शास्त्रों को नष्ट होने से बचाने के लिए प्रबन्धचिन्तामणि की रचना की।[३] राजशेखर द्वारा ग्रन्थ-रचना के उद्देश्य इससे मिलते-जुलते हैं।[४]

प्रबन्धकोश में उल्लिखित दस व्यक्तियों के विवरण प्रबन्धचिन्तामणि में मिलते हैं जिनमें से चार आचार्य, चार राजा और दो राजमान्य जैन गृहस्थ हैं।

---

१. प्रचिसि, प्रा० वक्तव्य।

२. भृशं श्रुतत्वान्न कथाः पुराणाः प्रीणन्ति चेतांसि तथा बुधानाम्।
वृत्तैस्तदासन्नसतां प्रबन्धचिन्तामणिग्रन्थमहं तनोमि ॥ ६ ॥
प्रचि, पृ० १।

३. वही, पृ० १२५, श्लोक १।

४ दे० पूर्ववर्णित अध्याय ३ में 'रचना-उद्देश्य' उपशीर्षक।

प्रबन्धचिन्तामणि के वर्णन संक्षिप्त और सामासिक शैली में हैं जबकि प्रबन्धकोश के तनिक विस्तृत और विश्लेषणात्मक हैं। राजशेखर ने अनेक नवीन बातों का भी समावेश किया है। हेमचन्द्रसूरि के जीवन के सम्बन्ध में जो-जो बातें प्रबन्धचिन्तामणि ग्रन्थ में लिखी गई हैं, उनका वर्णन राजशेखर नहीं करना चाहता, बल्कि उसके अतिरिक्त कुछ नवीन प्रबन्ध ही कहना चाहता है।[१]

वस्तुपालप्रबन्ध में प्रबन्धचिन्तामणि की अपेक्षा चौलुक्य-चाहमान संघर्ष, मन्त्रिपरिषद, परिषद-सदस्य, कोषागार, मण्डल-सिद्धान्त, विविध प्रकार के खेलों, कुमारपाल-आनाक सम्बन्ध, कालक्रमों और कारणत्व की विशिष्ट और विश्वसनीय बातों का सङ्कलन किया हुआ अवश्य मिलता है।[२] परन्तु प्रबन्धचिन्तामणि के भोज-भीम प्रबन्ध में भोजपरमार के साथ बाण, मयूर, मानतुङ्ग माघ आदि का समकालीनत्व जोडा गया है, जो सर्वथा भ्रान्त और निराधार है।[३] "छठीं शताब्दी का महान् ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर बिना किसी झमेले के चौथी शताब्दी ई० पू० के नन्दराजा का समकालीन बना दिया गया है।"[४] कालक्रम सम्बन्धी ऐसा भयंकर दोष प्रबन्धकोश के एक भी स्थल पर नहीं है। जहाँ तक अतिमानवीय व दैवी तत्वों का प्रश्न है दोनों ही ग्रन्थों में इनके यत्र-तत्र उल्लेख मिलते हैं।

प्रबन्धचिन्तामणि और प्रबन्धकोश के गद्यों और पद्यों दोनों में समानताएँ परिलक्षित होती हैं। दीक्षाकाल में सिद्धसेन का नाम कुमुदचन्द्र रखा गया था जो 'सिद्धसेन दिवाकर' नाम से प्रसिद्ध हुए।[५] प्रबन्धकोश का वाद-वाद-विवाद वर्णन प्रबन्धचिन्तामणि के वर्णन पर आधारित है। राजशेखर को यह जानकारी कि 'कुमुदचन्द्र' दिगम्बर था मेरुतुङ्ग से प्राप्त हुई। मल्लवादि प्रबन्ध राजशेखरसूरि का एकमात्र

---

१. जिनविजय (सम्पा०), प्रको, प्रा० वक्तव्य, पृ० २ व प्रको, पृ० ४७ तथा प्रचिद्धि, प्रा० वक्तव्य, पृ० क।

२. जिनविजय प्रको, प्रा० वक्तव्य, पृ० २ तथा प्रको, पृ० १०१-१३०।

३. प्रचिद्धि, प्रा० वक्तव्य, पृ० ६।

४. विण्टरनित्ज, हिइलि, पृ० ५२०।

५. तुलना कीजिये प्रको, पृ० १५-१७ और प्रचि, पृ० ६६-६८।

'कि राजशेखरसूरि ने प्रभावकचरित में से उतनी वस्तु नहीं ली जितनी प्रबन्ध-चिन्तामणि में से ली है।'[१] किन्तु तीनों ग्रन्थों के विभिन्न प्रबन्धों की परस्पर तुलना से तथा सम्बद्ध तालिका का अध्ययन करने से जिनविजय का मत सही नहीं प्रतीत होता है। वस्तुतः राजशेखर ने प्रबन्धकोशान्तर्गत प्रभावकचरित से अधिक ग्रहण किया है, प्रबन्धचिन्तामणि से कम। इसका कारण एक तो यह है कि प्रभावकचरित प्रबन्धचिन्तामणि से अधिक प्राचीन है। दूसरे, गद्य की अपेक्षा पद्य को स्मरण रखना और उद्धृत करना अधिक सरल होता है। तीसरे, प्रभावक-चरित की अपेक्षा प्रबन्ध-चिन्तामणि बहुचर्चित और अधिक लोकप्रिय रही होगी। अतः उसमें से प्रत्यक्षतः उद्धृत करने पर काव्य-हरण का स्पष्ट दोषारोपण हो जाता।

तीन दृष्टियों से राजशेखर का प्रबन्धकोश प्रबन्धचिन्तामणि का पूरक ग्रन्थ है। एक तो जिन-जिन सूरियों, कवियों और राजाओं के बारे में प्रबन्ध-चिन्तामणि में नहीं लिखा गया या कम लिखा गया, उनके बारे में राजशेखर विस्तार से लिखता है। दूसरे, प्रबन्धचिन्तामणि में गुजरात के चौलुक्यों के साथ मेरुतुङ्ग ने परमारों का वर्णन किया तो राजशेखर ने उनके साथ चाहमानों का वर्णन किया। अन्ततः गुजरात के चौलुक्यों का विशद वर्णन करने के पश्चात् प्रबन्धचिन्तामणि में वाघेलों का अत्यन्त संक्षिप्त विवरण है। जहाँ पर मेरुतुङ्ग वाघेलों का इतिहास छोड़ता है वहीं से राजशेखर उस सूत्र को पकड़कर वाघेलों के इतिहास का विस्तृत वर्णन करता है। इस प्रकार प्रबन्धकोश प्रबन्धचिन्तामणि का पूरक ग्रन्थ है।

(३) पुरातनप्रबन्धसंग्रह

'पुरातनप्रबन्धसंग्रह' प्रबन्धचिन्तामणि ग्रन्थागत प्रबन्धों के साथ सम्बन्ध और समानता रखने वाले ६१ प्राचीन प्रबन्धों का विशिष्ट संग्रह है। इन प्रबन्धों के कुछ प्रकरण ऐसे हैं जो प्रबन्धचिन्तामणि में तो नहीं हैं लेकिन प्रबन्धकोश में हैं और कई प्रकरण दोनों की पूर्ति के लिये ही लिखे गये प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ पुरातनप्रबन्धसंग्रह

१. प्रको, प्रा० वक्तव्य, पृ० २।
२. दे० प्रचि, प्रा० वक्तव्य, पृ० क-ख।

(वी प्रति) के पादलिप्ताचार्यप्रबन्ध[1] और रत्नश्रावकप्रबन्ध राजशेखरसूरि के प्रबन्धकोश के हैं।[2] अतएव ये प्रबन्ध उतने पुरातन नहीं हैं। प्रथम प्रबन्ध को तो पुरातनप्रबन्धसंग्रह में संकलित किया गया है किन्तु दूसरे प्रबन्ध के अन्त में उल्लेख है कि "रत्नश्रावकप्रबन्धो विसर्जिताः (तः) श्रीराजशेखरसूरिभिर्मलधारिगच्छीयैर्विरचितः।" अतः प्रकाशित पुरातनप्रबन्धसंग्रह में पुनरावृत्ति बचाने के लिए रत्नश्रावकप्रबन्ध को स्थान नहीं दिया गया है।

इन दोनों प्रबन्धों के अतिरिक्त पुरातनप्रबन्धसंग्रह के विक्रमादित्य और कुमारपाल के कुछ प्रकरण ऐसे हैं जिनका प्रबन्धकोश में आये तत्सम्बन्धी प्रकरणों से बहुत घनिष्ठ साम्य दिखाई देता है।

वे प्रबन्धकोश और पुरातनप्रबन्धसंग्रह में शब्दों और तथ्यों दोनों प्रकार से प्रायः समान प्रतीत होते हैं किन्तु भिन्न-भिन्न रचयिताओं द्वारा लिखे गये हैं क्योंकि प्रबन्धकोश की अपेक्षा पुरातनप्रबन्धसंग्रह वाले प्रकरणों की रचना अपेक्षाकृत अधिक पुरातन है।[3] इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि पुरातनप्रबन्धसंग्रह के इन दोनों प्रकरणों की भाषा अधिक लौकिक, परिष्कारविहीन और शिथिल है, जबकि प्रबन्धकोश में यही भाषा परिष्कृत और परिमार्जित रूप में है।[4] दूसरे, राजशेखर अपने से पूर्व विद्यमान कृतियों में से ऐसे कई प्रकरण अक्षरशः अथवा तनिक परिवर्तन करके प्रबन्धकोश में उद्धृत और आत्मसात् कर लेता है। अतः सम्भावना यही है कि राजशेखर सूरि ने किंचित् भाषा-संस्कार करके इन दोनों प्रकरणों को प्रबन्धकोश में सन्निविष्ट कर लिया होगा।

---

१. पुप्रस, पृ० ९२-९५।

२. पुप्रस, प्रा० वक्तव्य, पृ० ४ व पृ० ८।

३. जिनविजय (सम्पा०), पुप्रम; प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० ७।

४. कदाचित् राजशेखरसूरि के पहले किसी अन्य लेखक ने इन दोनों प्रकरणों को किसी प्रथमाभ्यासी विद्यार्थी के पठनार्थ बहुत सीधी-सादी भाषा में लिखा और तदनन्तर राजशेखरसूरि ने उक्त प्रकरणों में संशोधन-परिमार्जन किया हो।

प्रबन्धों और प्रकरणों की शब्दगत और तथ्यगत सादृश्यता प्रबन्धचिन्तामणि और पुरातनप्रबन्धसंग्रह में भी दीख पड़ती है, "यद्यपि यह समानता प्रबन्धकोश के जितनी विपुल और विशेष रूप में नहीं है।"[1] राजशेखरसूरि के रचे हुए पूर्वोक्त पादलिप्ताचार्य और रत्नश्रावक नामक दोनों प्रबन्धों की भाषा प्रबन्धचिन्तामणि के प्रबन्धों की भाषासे अलग प्रतीत होती है।

प्रबन्धकोशागत कुल ४० पद्य ऐसे हैं, जो शब्दशः पुरातनप्रबन्धसङ्ग्रह में भी पाये जाते हैं।

पुरातनप्रबन्धसंग्रह (बी प्रति) में उदयननृप प्रबन्ध उपलब्ध होता है[2] जो राजशेखरसूरि रचित प्रबन्धकोश के तद्विषयक प्रबन्ध से प्रायः शब्दशः मिलता है।[3] अतः प्रबन्धकोश में उपलब्ध होने के कारण पुरातनप्रबन्धसंग्रह में पुनर्मुद्रित नहीं किया गया है। सम्भव है कि प्रबन्धकोशकार ने यह प्रबन्ध भी पुरातनप्रबन्धसंग्रह से उपरिलिखित कारणवशात् ही नकल कर लिया हो, यद्यपि कुछ पाठ-भेद अवश्य है।

पुरातनप्रबन्धसंग्रह के वस्तुपाल-तेजपालप्रबन्ध[4] के नाम देखने से तो ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है कि यह वही प्रबन्ध होगा जो प्रबन्धकोश के अन्तिम भाग में ग्रथित है।[5] इस संशय का कारण यह है कि पुरातनप्रबन्धसंग्रह की केवल एक (पीएस) प्रति में यह प्रबन्ध उपलब्ध है और इस प्रबन्ध की स्वतंत्र प्रतियाँ कहीं-कहीं दृष्टिगोचर होती हैं। लेकिन प्रति का प्रत्यक्ष अवलोकन करने पर विदित हुआ कि पुरातनप्रबन्धसंग्रह का यह वस्तुपाल-तेजपाल-प्रबन्ध राजशेखरकृत प्रबन्ध से सर्वथा भिन्न है।[6]

---

१. जिनविजय (सम्पा०) पुप्रसं, प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० ७।
२. वही, पृ० १४, टि० १।
३. प्रको, पृ० ८६-८८।
४. पुप्रसं, पृ० ५३-७८।
५. प्रको, पृ० १०१-१३०।
६. जिनविजय (सम्पा०) पुप्रसं, प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० २४।

इतना ही नहीं पुरातनप्रबन्धसंग्रह के इस प्रबन्ध के रचयिता का उद्देश्य तो विशेषकर केवल उन्हीं बातों को संग्रह करना है, जो प्रबन्धकोशगत वस्तुपाल-तेजपाल प्रबन्ध में अनुल्लिखित रहीं हैं। "इस बात का उल्लेख प्रबन्ध-प्रणेता ने स्वयं प्रकरण के प्रारम्भ ही में 'अथ श्रीवस्तुपालस्य २४ प्रबन्धमध्ये यन्नास्ति तदत्र किञ्चिल्लिख्यते', यह पंक्ति लिखकर किया है।"[1] इससे यह प्रतीत होता है कि इसका प्रणयन (सम्भवतः १४४० ई० के आसपास) राजशेखरकृत प्रबन्ध के पश्चात् हुआ होगा। अतः दोनों ग्रन्थों में विषय-सामग्री का विनिमय हुआ है।

(४) विविधतीर्थकल्प

जिनप्रभसूरि रचित 'विविधतीर्थकल्प' या 'कल्पप्रदीप' जैन ऐतिहासिक और भौगोलिक साहित्य की एक अमूल्य निधि है। जैन-साहित्य में इस प्रकार का कोई दूसरा ग्रन्थ अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है। विविधतीर्थकल्प में जैनों के प्राचीन और प्रसिद्ध तीर्थस्थलों का वर्णन है, जिसमें कुल ६२ कल्प (अध्याय) हैं। विविधतीर्थकल्प के विभिन्न प्रबन्ध संस्कृत और प्राकृत, गद्य और पद्य, दोनों में भिन्न-भिन्न समय और भिन्न-भिन्न स्थानों में लिखे गये हैं जिससे इनमें किसी प्रकार का व्यवस्थित क्रम नहीं रह सका।[2] ग्रन्थ में आये विभिन्न स्थान गुजरात, काठियावाड़, उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजपूताना और मालवा, अवध और बिहार, दक्षिण, कर्नाटक आदि में पड़ते हैं। पीटर्सन की बम्बई क्षेत्र की रिपोर्ट में विविधतीर्थकल्प का परिचय दिया गया था।[3] कालान्तर में ए० पी० पण्डित तथा ब्युलर ने भी इसका उपयोग किया।

प्रभावकचरित और प्रबन्धचिन्तामणि से जितनी सामग्री प्रबन्ध-कोश में ली गई है उससे कहीं अधिक वस्तु विविधतीर्थकल्प से ली गई है। उक्त प्रथम दो ग्रन्थों से तो प्रधानतया वस्तु और वक्तव्य का ही

---

१. जिनविजय (सम्पा०) पुप्रस, प्रास्ताविक वक्तव्य, पृ० २४।
२. वितीक, प्रा० निवेदन, पृ० १।
३. द्रष्टव्य, पीटर्सन : ए फोर्थ रिपोर्ट ऑफ ऑपरेशन इन सर्च ऑफ़ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द बाम्बे सर्किल, १८८६-९२।

संग्रह किया गया है, लेकिन तीर्थकल्प से तो कुछ पूरे के पूरे कल्प (प्रबन्ध) ही, शब्दशः उद्धृत किये गये हैं। सातवाहनप्रबन्ध, वङ्कचूल-प्रबन्ध और नागार्जुन-प्रबन्ध—ये तीनों प्रकरण तीर्थकल्प की पूरी नकल हैं। उसमें सातवाहन का प्रकरण प्रतिष्ठानपुरकल्प[1] (क्रमांक ३३-३४, पृष्ठांक ५९-६४) में है, वङ्कचूल का विवरण ढींपुरीतीर्थकल्प (क्रमांक ४३, पृ० ८१-८३ में है, और नागार्जुन का वृत्तान्त स्तम्भनक-कल्पशिलोञ्छ (कल्पांक ५९, पृ० १०४) में है।

विविधतीर्थकल्प में स्तम्भनककल्पशिलोञ्छ-प्रबन्ध प्राकृत भाषा में गूँथा हुआ है जिसको राजशेखर ने शब्दशः संस्कृत में अनूदित कर लिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिनप्रभसूरि ने भी यह प्रकरण सम्भवतः प्रबन्धचिन्तामणि[2] से संस्कृत से प्राकृत में अनुवाद करके लिख लिया हो, क्योंकि प्रबन्धचिन्तामणि और विविधतीर्थकल्प दोनों में शब्द रचना प्रायः एक-सी है। किन्तु जब प्रबन्धचिन्तामणि के उक्त प्रबन्ध (पृ० ११९-१२०) की संस्कृत भाषा की तुलना प्रबन्धकोश के तद्विषयक प्रबन्ध (पृ० ८४-८६) की संस्कृत भाषा से की जाती है तब यह प्रतीत होता है कि दोनों प्रबन्धों में आकार, विषय-वस्तु और वर्णन-शैली में समानता तो है परन्तु शब्द-रचना उतना मेल नहीं खाती है, जितना प्रबन्धचिन्तामणि और विविधतीर्थकल्प में। फिर भी प्रबन्धकोश और विविधतीर्थकल्प में विषय-वस्तु, तथ्यों एवं पदों की साम्यता अत्यधिक है।

(५) राजतरंगिणी

संस्कृत साहित्य की अनूठी निधि[3] राजतरंगिणी में प्रारम्भिक काल से १२वीं शताब्दी तक के कश्मीर का इतिहास मिलता है जिसमें लगभग ८००० संस्कृत-पद्य हैं। संस्कृत के ऐतिहासिक ग्रन्थों में इसका

---

१. प्रबन्धकोशागत सातवाहन प्रबन्ध के ८९, ९० और ९१, ये तीन प्रकरण वितीक में नहीं हैं। दे० वितीक, पृ० ९

२. प्रबोधांक प्रबन्धान्तर्गत नागार्जुनोत्पत्ति-स्तम्भनक तीर्थावतारप्रबन्ध, प्रचि, पृ० ११९-१२० तथा दे० इसी अध्याय में पूर्वोक्त टि० २१।

३. हिइन्डि, भाग १, पृ० ९५।

स्थान सर्वोपरि है।[1] कल्हण की राजतरंगिणी के अलावा प्राचीन या मध्यकालीन भारतीयों के पास कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं हैं—यह आक्षेप उचित प्रतीत नहीं होता है। जैन इतिहास सम्बन्धी आधुनिक खोजों ने कल्हण के इस दावे का खण्डन कर दिया है कि वही समूचे प्राचीन और मध्यकालीन भारत का इतिहासशास्त्रज्ञ था।[2] जैन-प्रबन्ध ग्रन्थों में ऐतिहासिकता अत्यधिक है और मेरुतुङ्ग की प्रबन्ध-चिन्तामणि तथा राजशेखर का प्रबन्धकोश कई मानों में कल्हण की राजतरंगिणी से बढ़कर है। प्रबन्धकोश के स्रोतों, साक्ष्यों, कारणत्व, परम्पराओं, कालक्रम एवं उसमें निहित इतिहास की अवधारणा से सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ प्रभूत ऐतिह्य सामग्री प्रदान करता है।[3]

कल्हण के इतिहास-लेखन का उद्देश्य था — १. कश्मीर के राजाओं का सच्चा कालक्रम और वंशानुक्रम प्रदान करना, २. पाठकों के चिन्तन व मनोरञ्जन के लिये आहार प्रदान करना। राजशेखर भी इन्हीं उदात्त उद्देश्यों को लेकर चलता है किन्तु अन्तर इतना है कि वह राजनीतिक इतिहास के साथ-साथ धार्मिक आचार्यों और सामान्य-जनों का भी इतिहास प्रस्तुत करता है।

इतिहास की अवधारणा के सम्बन्ध में कल्हण कहता है कि इतिहासकार का उद्देश्य बीते युग को किसी के नेत्रों के सामने सचित्र करना होता है।[4] सच्चा इतिहास अनेक महापुरुषों एवं इतिहासकारों को अमरत्व प्रदान करता है। उसने स्वयं अपनी राजतरंगिणी को ऐतिहासिक ग्रन्थ बताने की चेष्टा की है और उसके अनुसार उसने इस ग्रन्थ में इतिहास लिखने का प्रयास किया है।[5] यद्यपि कल्हण द्वारा निर्दिष्ट उदात्त इतिहासकार के लक्षण ग्रहणीय हैं तथापि कई स्थानों पर कल्हण ने स्वयं अपने नियमों का उल्लंघन किया है क्योंकि

---

१. ब्युलर, रिपोर्ट ५२वी, पृ० ६६।

२. हसन, मोहिबुल (सम्पा०) : हिस्टोरिएन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, १९६८, पृ० ग्यारहवाँ।

३. दे० पूर्ववर्णित अध्याय ६ व ७।

४. कल्हण : राजतरंगिणी, प्रथम, पद ४।

५. वही, पद ३।

वह लौकिक नीतिशास्त्र के मतों से अधिक प्रभावित दीख पड़ता है। कल्हण के इतिहास में धर्म और नैतिकता की शिक्षा सन्निहित है।[1]

कल्हण और राजशेखर दोनों की तथ्यों एवं इतिहास के स्रोतों तक पहुँच थी। उसका ग्रन्थ परम्पराओं अनुश्रुतियों और अभिलेखों पर आधारित है। कल्हण ने मुद्राओं एवं प्राचीन स्मारकों का भी अध्ययन किया था जो इतिहास के प्रमुख स्रोत माने जाते हैं।[2] उसने नीलमत पुराण, क्षेमेन्द्र की नृपावलि, हेलराजकृत पार्थिवावलि आदि का सन्दर्भ ग्रहण किया है। उसने महाभारत, हर्षचरित, विक्रमाङ्कदेवचरित तथा वराहमिहिर प्रणीत बृहत्संहिता का विशेष अध्ययन किया था।[3] 'कल्हण ने अपने ग्रन्थ को तैयार करने में प्राचीन इतिवृत्तों के अतिरिक्त मन्दिरों के शिलालेखों, भूदान के प्रमाणपत्रों, प्रशस्तिपट्टों और लिखित शास्त्रों का आश्रय लिया।'[4] कल्हण ने प्रत्यक्षदर्शियों के विवरण भी दिये हैं।

इसी तरह राजशेखर ने भी पूर्व अवस्थित अनेक जैन-अजैन ग्रन्थों के अलावा परम्पराओं का प्रभूत उपयोग किया है।[5]

राजतरंगिणी और प्रबन्धकोश दोनों में धर्म-निरपेक्षता पायी जाती है। शैव-धर्म का अनुयायी होते हुए भी कल्हण ने बौद्धों, बोधिसत्वों तथा जैनों को आदर की दृष्टि से देखा। कल्हण ने अशोक तथा अन्य बौद्ध शासकों की और उनके द्वारा मठ व स्तूप-निर्माण की प्रशंसा की है। कहीं-कहीं बौद्ध भिक्षुओं की कट्टरता के प्रति व्यंगात्मक स्वर उच्चारित करने से वह अपने को रोक भी नहीं सका है।[6] कल्हण के

---

१. विण्टरनित्स, हिइलि, भाग १, पृ० ८६।
२. कीथ, ए० बी० : ए हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर, १९२०; पृ० १६२।
३. बुद्धप्रकाश : इतिहास-दर्शन, पृ० २१; दे० सिंह, रघुनाथ (भाष्यकार) कल्हण : राजतरंगिणी, वाराणसी, १९६९; प्राक्कथन, पृ० ५ भी।
४. दे० वही।
५. प्रसाद, एस० एन० : कथासरित्सागर तथा भारतीय संस्कृति; प्रथम संस्करण, वाराणसी, १९७८, पृ० १२।
६. कल्हण : राजतरंगिणी, प्रथम, पद १८४।

अनुसार एक सच्चे इतिहासकार का प्रथम गुण तटस्थ मस्तिष्क रखना होता है जो पूर्वाग्रह और पक्षपातरहित हो। अतीत की घटनाओं का वर्णन करते समय इतिहासकार को एक न्यायिक की भाँति रागद्वेष-रहित होना चाहिये।[१] निष्पक्षता के सम्बन्ध में राजशेखर कल्हण से कम नहीं है। व्यक्तियों और घटनाओं का निस्पृह होकर मूल्यांकन करना, ऐतिहासिक विस्तार में सटीकता, भूगोलशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद के गहन ज्ञान, व्यक्तियों, कवियों, राजाओं एवं मन्त्रियों तक के दोषों का चित्रण, ये कुछ ऐसे गुण हैं जिनका विचार कर लेने पर आधुनिक इतिहासकार राजशेखर को इतिहासज्ञ की श्रेणी में रख सकता है, परन्तु कल्हण का अत्यन्त उत्साही प्रशंसक भी एक क्षण के लिये ऐसा दावा नहीं करेगा।

कल्हण और राजशेखर दोनों के पास आलोचनात्मक मस्तिष्क थे। एक असाधारण योग्यता, अति परिश्रम और सत्य के प्रतिपादन की इच्छा से युक्त है तो दूसरा दिग्गज विद्वान् और अति परिश्रमशील अध्येता था। कल्हण ने सुव्रत और क्षेमेन्द्र की त्रुटियों का प्रक्षालन किया, उन्हें संशोधित किया और अनेक विवरणों को आँख मूँद कर स्वीकार नहीं किया। राजशेखर भी प्रबन्धचिन्तामणि के प्रबन्धों को दुहराना नहीं चाहता था और उसने कुछ ऐसे विवरण दिये है जो जैन-सम्मत नहीं थे।

राजतरंगिणी और प्रबन्धकोश दोनों के दोषों में भी साम्य है। कल्हण में अनेक असफलताएँ और अपूर्णताएँ थीं। राजतरंगिणी की प्रथम तीन तरङ्गों एवं शेष ग्रन्थ में एक विभाजक रेखा सरलतापूर्वक खींची जा सकती है। प्रथम तीन तरङ्गों के प्रारम्भिक राजे अधिकांशतः पौराणिक हैं अथवा विश्वसनीय प्रमाणों से वंचित हैं। आश्चर्य है कि कल्हण ने भारत पर सिकन्दर के आक्रमण, पोरस के साथ युद्ध, चन्द्रगुप्त मौर्य, समुद्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, शशांक, पुलकेशिन् तथा नागभट्ट के उल्लेख नहीं किये। दार्शनिकों में वह शंकराचार्य को भी भूल गया। प्रमुख गणतन्त्रों का उल्लेख न होना एक समस्या खड़ी कर

---

१. कल्हण : राजतरंगिणी, प्रथम, पद ७।

देता है ।[1]

दोनों ग्रन्थों में एक सामान्य दोष यह भी पाया जाता है कि उनमें डाकिनी-विद्या, चमत्कार, दैववशात्, भाग्य के खेल, दानवों आदि के भी वर्णन आ गये है। एक भारतीय की भाँति कल्हण की पूर्व कर्मों के फल में *अटूट श्रद्धा थी। अलौकिक शक्तियों, यक्ष, किन्नर तथा* गन्धर्वो के अस्तित्व में कल्हण का विश्वास था। एक राजा के अधःपतन में महत्वपूर्ण कारक इन्द्रजाल या ब्राह्मण का शाप बताया गया है। दुर्भिक्ष ईश्वरीय इच्छा से पड़ते हैं। सन्धि-माता की कथा और भी विचित्र है। डाइनें आती हैं और उसकी अस्थियों का पञ्जर इकट्ठा कर देती हैं।[2] राजा हर्ष के पतन में उसके ग्रह प्रतिकूल थे। फलतः भाग्य उसके पक्ष में न था।[3] प्रबन्धकोश में भी अतिमानवीय शक्ति, वेताल, दानवों, परकाया-प्रवेश-विद्या आदि के विवरण दिये हुए हैं। कल्हण और राजशेखर दोनों ने कर्म और पुनर्जन्म के हिन्दू सिद्धान्तों के वर्णन किये हैं। उपदेशात्मक प्रवृत्ति इन दोनों ग्रन्थों में द्रष्टव्य है। ऐसे दोष मध्ययुगीन इतिहासकारों में सामान्य रूप से पाये जाते थे।

इन दोनों ग्रन्थों में गुण-दोषों का साम्य होते हुए भी यथेष्ट अन्तर है। कल्हण की राजतरंगिणी के बाद कश्मीर में उसके बराबर का या ऐतिहासिक कहा जाने वाला कोई ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आया। परन्तु प्रबन्धकोश के पहले और बाद में उसके निकट आ सकने वाले कम से कम एकाध दर्जन ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं जो ऐतिहासिक कहे जा सकते है। गुजरात के इतिहासशास्त्र में जयसिंह सूरि (१३६० ई०) जिनमण्डनगणि (१४३६ ई०) आदि ने पूर्ववर्तियों की ऐतिहासिक अनुभूति को बनाये रखा और किसी ने भूगोलशास्त्र में तो किसी ने सांस्कृतिक इतिहास में पूर्ववर्तियों के दृष्टिकोणों को और विकसित किया। किन्तु कल्हण के उत्तराधिकारियों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। जोनराज, श्रीवर, प्रज्ञाभट्ट और शुक ने ऐतिहासिक क्रमों की कल्हण जैसी पकड़ नहीं प्रदर्शित की।

---

१. सिंह, रघुनाथ : कल्हण, राजतरंगिणी, प्राक्कथन, पृ० २९।
२. कल्हण : राजतरंगिणी, श्लोक १७-५५ व ९२।
३. वही, सप्तम तरंग, श्लोक १७१५।

दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि राजतरंगिणी में हम ज्यों-ज्यों पुरातन वृत्तान्तों की ओर पीछे जाते हैं त्यों-त्यों विवरण रूढ़िवादी और पौराणिक होता जाता है किन्तु जैसे-जैसे हम समकालीन वृत्तान्तों की ओर बढ़ते हैं कल्हण का विवरण सच्चे ऐतिहासिक चरित्र का होता जाता है। कल्हण की अपेक्षा राजशेखर में समकालिकता का अभाव है। वस्तुतः समकालिक इतिहास लिखने के सम्बन्ध में राजशेखर अपने को बचाता रहा जबकि कल्हण समकालीन वृत्तों का विश्लेषण करता है।

जहाँ तक तिथियों का सवाल है राजतरंगिणी के पूर्ववर्ती भाग का कालक्रम भ्रान्तिमूलक है। अशोक, कनिष्क, तोरमाण, मिहिरकुल, खिंगिल आदि के काल गलत दिये गए हैं। रणादित्य द्वारा तीन सौ वर्षों तक शासन करने का कथन नितान्त अश्रद्धेय है। यह कथन इस बात का परिचायक है कि कल्हण तिथि के उल्लेख के प्रति कितना उदासीन था। कल्हण के आधार पर यदि अशोक मौर्य की तिथि का निर्धारण किया जाय तो उसकी तिथि १२६० ई० पू०[1] होगी। परन्तु राजशेखर देश के साथ-साथ काल के प्रति भी सजग था। उसने कालक्रमानुसार राजाओं की शासनावधियों का उल्लेख किया है। विक्रम और वीर संवत् में कालक्रम प्रदान किये है और एक स्थल पर इन दोनों संवत्सरों का तुलनात्मक उल्लेख तक किया है। विक्रम संवत् में संवत्सर, मास, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्र आदि तक का सूक्ष्म उल्लेख किया है। कालक्रमीय पद्धति में वह कल्हण से काफी आगे बढ़ जाता है।

कल्हण ने कभी-कभी राजतरंगिणी को मनोरंजन का स्रोत बनाने के लिए विगत घटनाओं की सटीकता को तिलांजलि दे दी है किन्तु राजशेखर ने प्रबन्धकोश को मनोरञ्जक बनाने में किसी सिद्धान्त का त्याग नहीं किया है। कल्हण ने केवल काश्मीर का स्थानीय इतिहास लिखा, किन्तु राजशेखर ने चार-पाँच राज्यों—गुजरात, मालवा, कन्नौज, सपादलक्ष, दिल्ली, बंगाल आदि के बारे में लिखा और अपने इतिहास को अधिक व्यापक बनाया। यद्यपि राष्ट्रीय इतिहास की

---

१. स्टाइन, ए० : कल्हण्स राजतरंगिणी, पृ० ६।

कोई अवधारणा उस समय नहीं थी, तथापि विविध राजवंशीय इतिहास का प्रणयन स्वाभाविक रूप से शुरू हो गया था। अतः प्रबन्धकोश ने इतिहास के क्षेत्र को विस्तृत किया।

प्रधानतः गद्य में लिखे होने के कारण प्रबन्धकोश में ऐतिहासिक तत्वों का समावेश सरलता से हुआ है और यह ग्रन्थ इतिहास के समीप आ जाता है। इस मान में राजतरंगिणी पीछे रह जाती है। प्रबन्धकोश की राजतरंगिणी पर श्रेष्ठता एक और बिन्दु पर स्थापित होती है कि राजशेखर ने सामान्यजनीन इतिहास-लेखन का श्रीगणेश किया और उसके इतिहास की रचना किसी राजाश्रय में नहीं हुई थी।

(६) मध्ययुगीन भारत के मुस्लिम ग्रन्थ

मध्ययुगीन भारत में साहित्यिक उन्नति के साथ-साथ इतिहास-लेखन की महत्वपूर्ण प्रक्रिया चलती रही। प्राचीन यूनानियों और चीनियों की भाँति मुसलमानों को भी अतीत जानने की जिज्ञासा थी। इस देश में मुसलमान फारसी इतिहास-लेखन परम्परा लेकर आये। फलतः भारत में प्रारम्भिक तुर्कों के अधीन इतिहासशास्त्र पनपा। अधिकतर तफसीर (टीकाएँ), अहादीस (परम्पराएँ), फिक (न्याय-शास्त्र) अरबी और फारसी में लिखे गये। महमूद गजनी के भवनों एवं उद्यानों को चार सौ कवि अपने काव्यों से गुंजरित करते थे।[1] उसके साथ आने वालों में अबूरीहान मुहम्मद अल्बीरूनी (९७३-१०४८ ई०) ने संस्कृत का भी अध्ययन किया और भारत विषयक ज्ञान की गहराई में कोई भी मुसलमान लेखक उसकी बराबरी नहीं कर सकता।[2] मूल और अनुवादों को मिलाकर उसने लगभग २० पुस्तकें लिखी हैं जिनमें 'तहकीक-ए-हिन्द' (१०३० ई०) सर्वप्रसिद्ध है। मोहम्मद गोरी ने ताजुद्दीन हसन, रुकनुद्दीन हमजा, शिहाबुद्दीन

---

१. शर्मा, रजनीकान्त : अल्बीरूनी का भारत (अनु०), इलाहाबाद, १९६७, पृ० ३।

२. अल्बीरूनी ने पौलिस सिद्धान्त, बृहत्संहिता, लघुजातक का संस्कृत से अनुवाद किया। उसके पुराणों के अध्ययन, पतञ्जलि, सांख्य, गीता के उद्धरण उसके द्वारा भारत की खोज के प्रतीक हैं।

मुहम्मद रशीद आदि को संरक्षण प्रदान किया। कुतुबुद्दीन ऐबक (१२०६-१० ई०) विद्वानों के प्रति इतना उदार था कि उसे लाख-बख्श कहा जाने लगा। इल्तुतमिश (१२११-३६ ई०) के दरबार में ख्वाजा अबू नसर, रुहानी और नूरुद्दीन मुहम्मद अवफी प्रसिद्ध थे।[१] तवकात-ए-नासिरी का रचयिता मिनहाजुद्दीन सिराज नासिरुद्दीन महमूद (१२४६-६६ ई०) के दरबार में था। 'अपने सम्पोषक नासिरुद्दीन के सम्मानार्थ उसने अपनी पुस्तक का नाम तवकात-ए-नासिरी रखा'[२] जो प्रारम्भिक समय से लेकर १२६० ई० तक का राजनीतिक इतिहास है। यह ग्रन्थ २३ तवकों (अध्यायों) में विभाजित है। उसमें ऐतिहासिक घटनाएँ राजवंशीय क्रमानुकूल व्यवस्थित हैं। तवकात-ए-नासिरी की गद्य-शैली परिष्कृत एवं प्रवाहपूर्ण नहीं है।[३] उसमें कालक्रमीय दोष पाये जाते हैं और स्रोतों की प्रामाणिकता का अभाव है। ग्रन्थ की योजना भी दूषित है क्योंकि एक ही बात को बार-बार लिखा गया है। परन्तु इस ग्रन्थ की भाषा शुद्ध, सीधी और स्पष्ट है। इसीलिये तवकात-ए-नासिरी का भारत और यूरोप दोनों में बड़ा आदर है।

तारीख-ए-अलाई अथवा खजाइन-उल-फुतूह का रचयिता 'तूती-ए-हिन्द' अमीर खुसरो (१२५३-१३२५ ई०) पटियाली जिला एटा में जन्मा भारतीय था। वह निजामुद्दीन औलिया का शिष्य, बरनी का मित्र और बलबन (१२६६-८६ ई०) से लेकर गयासुद्दीन तुगलक (१३२०-२५ ई०) के समय तक के कई सुल्तानों का दरबारी था।[४]

---

१. श्रीवास्तव, आ० ला० : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, आगरा, १९७३, पृ० १०३-१०४।

२. ईलियट और डाउसन, खण्ड द्वितीय, पृ० १९०; 'तबकात' का अं० अनु० रैवर्टी, एच० जी०, दो जिल्द, लन्दन १८८१, रिप्रिण्ट, नई दिल्ली, १९७०।

३. दे० ईश्वरी प्रसाद : भारतीय मध्ययुग का इतिहास, इलाहाबाद, १९५५, पृ० ५३९-५४०।

४. मिर्जा, मो० वाहिद : द लाइफ ऐण्ड वर्क्स ऑफ अमीर खुसरो, दिल्ली, पुनर्प्रकाशित, १९७४, पृ० १७। 'यह भूमि मेरी जन्मभूमि है' नूह

खुसरो ने कविता, कहानी, दीवान, मसनवी और इतिहास आदि पर गद्य-पद्य में, फरिश्ता के अनुसार ९९ रचनाएँ कीं थीं जिनमें से नवाब इशाक खाँ (१९९५ ई०) केवल ४५ खोज सके थे और आज कुल २१ रचनाएँ ही उपलब्ध हो सकी हैं।[१] व्यापक सम्पर्क के कारण उसे तत्कालीन राजनीतिक घटनाओं एवं सामाजिक दशाओं का व्यक्तिगत ज्ञान था। खजाइन-उल-फुतूह नामक गद्य-रचना में अलाउद्दीन खिल्जी के राज्यारोहण (१२९६ ई०) से माबार-विजय (१३१० ई०) तक के समकालिक वृत्तान्त हैं। इस छोटी-सी रचना से तत्कालीन युद्ध-प्रणाली की इतनी ठोस जानकारी मिलती है जितनी अन्य किसी पुस्तक में नहीं। अलाउद्दीन द्वारा दुर्गों, तालाबों के निर्माण व जीर्णोद्धार, मंगोल-आक्रमणों और अलाउद्दीन की गुजरात, सोमनाथ, नेहरवाला, खम्भात, रणथम्भौर, मालवा, चित्तौड़, देवगिरि, दक्षिण मथुरा, मथुरा और माबार विजयों के वर्णन हैं।[१]

खजाइन-उल-फुतूह हमें यथेष्ट और विश्वसनीय तिथियाँ साल महीना दिन में प्रदान करती है।[१] घटनाओं का वर्णन सही और कालक्रमानुसार हुआ है। कालक्रम के बारे में प्रबन्धकोश से इसका साम्य है, परन्तु परवर्ती तारीख-ए-फीरोजशाही से यह अधिक विश्वसनीय है। किन्तु अमीर खुसरो के विषयों की विविधता, भव्य वक्तृता, शब्दाडम्बर एवं काव्यात्मक अतिशयोक्तियाँ उसके ग्रन्थों की ऐति-

---

सिपेहर, तृतीय, पृ० ४३; श्रीवास्तव, आ० ला० : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०५; निजामी, खालिक अहमद का लेख 'अमीर खुसरो', हिन्दी विश्वकोश, खण्ड १, ना० प्र० सभा, वाराणसी, १९६०, पृ० १९९; दे० हार्डी, पी० : हिस्टोरिएन्स ऑफ् मेडिवल इण्डिया, अध्याय ५।

हासिक महत्ता घटा देती है।[1] अमीर खुसरो ने किसी भी स्थल पर अपने को इतिहासकार नहीं माना है और स्पष्ट बतलाया है कि उसने महत्वपूर्ण ऐतिहासिक विषयों पर किसी भी शासक के कहने पर या उसे समर्पित करने के लिए नहीं लिखा है। सर्वश्रेष्ठ सुल्तान में भी गुण-दोष पाये जाते हैं किन्तु अमीर खुसरो ने गुणों पर ही लिखा और दोषों को नजरअन्दाज कर दिया।[2] राजशेखर या बरनी की तुलना में खुसरो अच्छा इतिहासकार नहीं है। कवि वह पहले है और इतिहासकार बाद में।

इसामी कृत फुतूह-उल-सलातीन (१३५०-५१) में गजनी के यामनियों के अभ्युदय से लेकर मुहम्मद बिन तुगलक के शासन तक का इतिहास है।[3] इसामी दिल्ली-सल्तनत के अधिकारियों के परिवार का और मुहम्मद तुगलक के अत्याचार का शिकार था।[4] अतः वह दौलताबाद में बस गया और फुतूह-उल-सलातीन की रचना बहमनी-राज्य के संस्थापक हसन (१३४७-५८ ई०) के आश्रय में की और उसे ही समर्पित कर दिया। फुतूह-उल-सलातीन इसामी के पूर्वजों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर लिखी गयी थी तथापि इसामी अपनी सूचना के स्रोतों का उल्लेख नहीं करता है, परन्तु प्रतीत होता है कि उसने तबकात-ए-नासिरी का उपयोग नहीं किया है।

इस प्रकार फुतूह-उल-सलातीन तुगलककालीन एकमात्र ऐसा इतिहासग्रन्थ है जिसका रचयिता राजवंश के भय या कृपा से परे था। चूँकि सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने इसामी को अपार कष्ट दिया था

---

१. अस्करी, सैय्यद हसन का लेख अमीर खुसरो ऐज ए हिस्टोरियन, हसन, एम० (सम्पा०) : हिस्टोरिएन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, मेरठ, १९६८, पृ० २३ में।

२. वही, पृ० २५।

३. मजुमदार, आर० सी० (सम्पा०) : द देलही सल्तनेत, भा० वि० भवन, बम्बई, १९६० पृ० ३; श्रीवास्तव, आ० ला० : पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १०६।

४. इसामी को अपने ९५ वर्षीय पितामह के साथ दिल्ली से दौलताबाद जाने के लिये विवश किया गया था। वृद्ध मार्ग में चल बसा।

इसलिये उसने अपने इतिहासलेखन में सुल्तान की कठोर अवहेलना की है।

राजशेखर के समकालीन अरबी यात्री, विद्वान तथा लेखक 'इब्न-वतूता (१३०४-७८ ई०) का असली नाम अबू अब्दुल्ला मुहम्मद था।'[1] यात्री के रूपमें इब्नवतूता ने लगभग १,२०,००० कि० मी० विविध महाद्वीपों की यात्रा की थी। विद्वान् के रूप में उसका आशातीत आदर-सत्कार मुहम्मद तुगलक ने किया और १३३३ ई० से नौ वर्षों तक दिल्ली में काजी-पद पर प्रतिष्ठित किया। लेखक के रूप में उसने स्वदेश लौटकर अपनी यात्रा का विवरण लिखवाया जिसे 'तुहफत-अल-नज्जार फी गरायव अल अमसार व अजायव अल अफसार' कहते हैं।[2]

वतूता के यात्रा-विवरण 'तुहफत-अल' में अनेक अशुद्धियाँ हो गयी हैं क्योंकि यात्रा की समाप्ति पर वतूता की केवल स्मृति के आधार पर सचिव मुहम्मद इब्न जुजँय ने प्रत्येक घटना लिपिबद्ध की थी। कहीं पर नगरों के क्रम उलट दिये गए हैं तो कहीं पर उनके नामोच्चारण भ्रष्ट रूप से लिख दिये गए हैं। कुतुबमीनार की सीढ़ियाँ इतनी चौड़ी वतायी हैं कि हाथी चढ़ जाय, जो वस्तुतः यथार्थ नहीं है। वतूता ने न तो राजदरवार के और न किसी प्रान्त के किसी उच्च पदाधिकारी हिन्दू का नाम लिखा है। उसके वृत्तान्त में सर्वत्र मुसलमान और अधिकतर विदेशी ही दृष्टिगोचर होते हैं।

---

१. मदनगोपाल (अनु०) : इब्नबतूता की भारत-यात्रा, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, १९३१, पृ० १।

२. इस ग्रन्थ की एक हस्तलिपि पेरिस के राष्ट्रीय पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसको द फ्रेमरी तथा सांगिनेती ने सम्पादित किया और इसका फ्रांसीसी भाषा में पूरा अनुवाद चार खण्डों (१८५३-५९ ई०) में पेरिस से प्रकाशित किया। इसके कुछ अंशों का अंग्रेजी अनुवाद ईलियट और डाउसन के इतिहास के तृतीय खण्ड में तथा इसका संक्षिप्त अनु० (एक प्रस्तावना सहित) ब्रॉडवे ट्रैवलर्स में गिब्ब ने लन्दन से १९२९ ई० में प्रकाशित किया था। दे० परमात्माशरण का लेख 'इब्नबतूता', हि० को०, खण्ड १, वाराणसी, १९६०, पृ० ४८२।

(७) तारीख-ए-फीरोजशाही (१३५७ ई०)

आदि तुर्ककालीन भारत (१२०६-९० ई०) के इतिहास में तवकात-ए- नासिरी की तरह तारीख-ए-फीरोजशाही भी मुख्य आधार है। वलवन तथा कैकुबाद का इतना विस्तृत उल्लेख तारीख-ए-फीरोजशाही के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिलता।[१] वरनी ने भारत का इतिहास वहाँ से शुरू किया जहाँ तवकात ए-नासिरी ने इसको छोड़ा है।[१] यद्यपि वरनी ने फीरोज के नाम पर अपने इस ग्रन्थ का नामकरण किया है तथापि उसमें फीरोज का वास्तविक इतिहास, ग्रन्थ का लगभग पाँचवाँ हिस्सा ही है। तारीख-ए-फीरोजशाही (१३५७ ई०) में वलवन के सिंहासनारोहण से लेकर फीरोज के शासन के छठें वर्ष तक का इतिहास है।[१]

जिस प्रकार राजशेखर ने लिखा है कि वह प्रबन्धकोश में उन वर्णनों का चर्वित-चर्वण नहीं करना चाहता है जो प्रबन्धचिन्तामणि में आ चुके हों, उसी प्रकार वरनी ने 'तारीख-ए-फीरोजशाही में उन विस्तृत बातों को स्थान नहीं दिया है जो तवकात ए-नासिरी में थी।'[४]

जैसे राजशेखर ने बप्पभट्टि और वस्तुपाल के सम्बन्ध में अति विस्तार से लिखा है वैसे वरनी ने अधिक समय और जगह वलवन और अलाउद्दीन खल्जी का इतिहास लिखने में व्यय किया है। राजशेखर की ही तरह वरनी भी सूचित करता है कि उसने अपने पूर्वजों, पिता-पितामह, से सुनी-सुनायी बातों के आधार पर वलवन का वृत्तान्त लिखा। सुल्तान जलालुद्दीन से फीरोज तक के वृत्तान्त

---

१. रिजवी, सै० अतहर अब्बास (अनु०) : आदि तुर्ककालीन भारत, अलीगढ़, १९५६, पृ० क।
२. इलियट और डाउसन, तृतीय, (हि० अनु०) शर्मा, मथुरालाल, पृ० ६२।
३. हबीब, मो० : द पॉलिटिकल थेयरी ऑफ देलही सल्तनत, इलाहाबाद; पृ० १२४-१२५; दे० रिजवी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ११७; वरनी : तारीख-ए-फीरोजशाही, पृ० २१-२२।
४. वही, पृ० २५; इलियट और डाउसन (हि० अनु०), तृतीय, पृ० ६५।

उसकी आँखों-देखी और व्यक्तिगत जानकारी पर आधारित है।[1]

तारीख-ए-फीरोजशाही में सुल्तानों, दरबारियों, कवियों, सन्तों, इतिहासकारों आदि की लम्बी सूची प्राप्त होती है। अभियानों, आर्थिक सुधारों, बाजार में प्रचलित कीमतों, राजस्व-नियमों के वृत्तान्त उसे सच्चे अर्थों में इतिहास-ग्रन्थ बनाते हैं। कृति का प्रारम्भ इतिहास-लेखन और ऐतिहासिक अध्ययन के उपयोग की चर्चा से होता है।[2] शासकों के कर्तव्यों पर विस्तारपूर्वक लिखा गया है।[3] परन्तु प्रबन्धकोश की भाँति 'तारीख' में जनसाधारण और उनके जीवन का वर्णन नहीं हुआ है क्योंकि बरनी की राजनीतिक बुद्धि सल्तनत के इर्द-गिर्द तक ही सीमित थी। प्रबन्धकोश की भाँति तारीख-ए-फीरोजशाही में कारणत्व की विवेचना की गयी है। इसमें उन कारणों की भी आलोचनात्मक व्याख्या की गयी है, जो खल्जी-वंश के पतन के लिये उत्तरदायी थे।

जिस तरह राजशेखर ने जैन-प्रबन्धों को परिभाषित कर इतिहास के प्रति चेतना का परिचय दिया है, उसी तरह जियाउद्दीन भी ऐतिहासिक साहित्य में अपने योगदान के प्रति जागरूक था और निःसंकोच घोषणा करता है कि गत हजार वर्षों से 'तारीख-ए-फीरोजशाही' जैसी पुस्तक नहीं लिखी गई।[4] तारीख-ए-फीरोजशाही के साक्ष्य निजामुद्दीन अहमद, बदायूनी, फरिश्ता, हाजीउद्दबीर के परवर्ती इतिहास-ग्रन्थों में मिलते हैं। निजामुद्दीन कहीं-कहीं बरनी की नकल ही कर लेता है और कहीं उसके द्वारा छोड़ी गयी गुत्थियाँ सुलझाता है।[5] ठीक ऐसी ही नियति का सामना प्रबन्धकोश कर चुका था।

जहाँ तक भाषा-शैली का सवाल है, प्रबन्धकोश में सरल संस्कृत, प्राकृत-पद और बोलचाल की यामिनी भाषा के शब्दों का प्रयोग हुआ

---

१. वही, पृ० १७५; इलियट और डाउसन, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ९३।
२. बरनी : तारीख-ए-फीरोजशाही, पृ० १०-१२।
३. वही, पृ० ४१-४४।
४. वही, पृ० १२२-१२३।
५. लाल, कि० शा० : खल्जी वंश का इतिहास, आगरा, १९५४, पृ० ३५५।

है। तारीख-ए-फीरोजशाही की प्रस्तावना अलंकृत भाषा में है किन्तु अन्य अध्यायों में सरल, बोलचाल की फारसी भाषा और हिन्दुस्तानी शब्दों—बदला, भट्टी, चाकर, चराई, चौतरा, चौकी, छप्पर, ढोलक, मण्डी—के प्रयोग कई बार हुए है। कहीं-कही उसकी भाषा इतनी टूटी-फूटी है कि उसका कुछ अर्थ ही नहीं निकलता।[१] शैली की दृष्टि से प्रबन्धकोश और तारीख-ए-फीरोजशाही में अन्तर है। प्रबन्धकोश की शैली सरल संस्कृत में स्पष्ट है जबकि 'तारीख' की शैली बहुत अलंकारपूर्ण है।[२] बरनी कुछ घटनाओं और नीतियों को मध्ययुगीन शैली में वार्तालाप के माध्यम से प्रस्तुत करता है और फिर स्वयं अपने विचारों को दूसरों के मुख द्वारा कहलवाता है। दुर्भाग्य से तारीख-ए-फीरोजशाही को उसके प्रतिलिपिकारों ने बहुत क्षति पहुँचायी है।

इतिहासशास्त्रीय दृष्टि से तारीख-ए-फीरोजशाही प्रबन्धकोश की अपेक्षा बलवती प्रतीत होती है। बरनी के मतानुसार इतिहास की नींव सत्यता पर आधारित है। "मैंने जो कुछ इस इतिहास में लिखा है, वह सच-सच लिखा है, और उस पर विश्वास किया जा सकता है।"[३] इतिहासकार को अपने वर्णनों में सटीक होना चाहिये तथा अतिशयोक्तियों से बचना चाहिये। असत्य वर्णन के दण्ड स्वरूप परलोक में उसे मुक्ति नहीं मिलती।[४] बरनी ने अपने युग के इतिहास में अपने उत्थान और पतन को ढूंढ़ा। अपने दुःखान्त जीवन के कारणों को सुल्तानों और मलिकों के व्यवहारों में खोजा। जलालुद्दीन खल्जी का वर्णन करते-करते अपने दुर्भाग्य को कोसने में न चूका।[५]

---

१. लाल, कि० श० : पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३५३।
२. ईश्वरी प्रसाद, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ५४०।
३. बरनी : तारीख-ए-फीरोजशाही, पृ० २३ तथा पृ० २३७। दे० इलियट और डाउसन, तृतीय, (हि० अनु०), पृ० ६३ तथा लाल, कि० श० : पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० ३५२।
४. बरनी, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १२-१३ तथा पृ० १६।
५. दे० वही, पृ० २०० तथा हसन, एम० (सम्पा०) : हिस्टोरिएन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, पृ० ४३ में निजामी, के० ए० का लेख जियाउद्दीन बरनी।

यहीं पर उसका वर्णन विषयगत हो जाता है। इतिहास द्वारा राजनीति को स्पष्ट करने की शैली का मध्यकालीन ग्रन्थों में प्रायः पालन हुआ है। अतः बरनी का विचार था कि ग्रन्थों की रचना द्वारा उसका खोया हुआ सम्मान पुनः वापस मिल जायगा।

वस्तुतः जियाउद्दीन जीवन का 'कड़वा और मीठा' दोनों चखने के उपरान्त पकी आयु में परलोकवासी हुआ था। बरनी के प्रत्येक ग्रन्थ में धार्मिक कट्टरपन झलकता है।[1] उसका दृष्टिकोण धर्म से रँगा था। अतः उसने सुल्तान के कार्यों और नीतियों की व्याख्या धर्म के परिप्रेक्ष्य में की। चूंकि बरनी उलेमा वर्ग का था, उसने उस युग की राजनीति धार्मिक दृष्टिकोण से देखी थी जिससे उसके ग्रन्थों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। यही नहीं बरनी का मस्तिष्क हिन्दुओं के प्रति भ्रमित और अस्थिर था।[2] उसका विश्वास था कि सभी हिन्दुओं को मुसलमान बनाना या तलवार के घाट उतारना सम्भव नहीं है। 'तारीख' द्वारा बरनी ने यह समझाया है कि हिन्दुओं को दरिद्र और मुहताज बना दिया जाय।

राजशेखर ने प्रबन्धकोश में परम्पराओं को मूर्धन्य स्थान प्रदान किया है। उसी प्रकार बरनी इतिहास और इल्म-ए-हदीस को जुड़वा मानता है।[3] उसके पास सुल्तानपद के दो सिद्धान्त थे कि सुल्तान इस संसार में खुदा का जिलल्लाह (प्रतिनिधि) है और सुल्तान को जवाबित (राजकीय नियम) निर्माण करने की शक्ति है।[4]

राजशेखर ने राजाओं और मन्त्रियों के विषय में सामाजिक अपवादों या पराजयों जैसी अप्रिय घटनाओं तक का वर्णन किया है। लेकिन बरनी ने अप्रिय घटनाओं का या तो वर्णन ही नहीं किया है

---

१. रिजवी, सै० अतहर अब्बास (अनु०): आदि तुर्ककालीन भारत, अलीगढ़, १९५६, पृ० ४।
२. हबीब, मो०: द पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ द देलही सल्तनत, पृ० १२८।
३. बरनी: तारीख-ए-फीरोजशाही, पृ० १०-११।
४. हसन (सम्पा०): हिस्टोरियन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया में निजामी, के० ए० का लेख जियाउद्दीन बरनी, पृ० ३८ तथा हबीब, मो०: द पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ द देलही सल्तनत, पृ० १९८-१९९।

या उनका अति संक्षेप में उल्लेख किया है। वरनी ने शादी के गुजरात आक्रमण का जानबूझ कर वर्णन नहीं किया है क्योंकि शादी का वध पराओं जैसी निम्न जाति द्वारा हुआ था। उसने अभियानों, सैन्य-व्यूह रचनाओं, विजयों, सन्धियों आदि का, जिनको वह पसन्द नहीं करता था, अति संक्षेप में वर्णन किया है। इससे उसके द्वारा उस समय का सच्चा इतिहास समझने में बड़ी कठिनाई होती है।[१] वह प्रशंसा में व्यक्ति को स्वर्ग तक उठा देता था और तिरस्कार में उसकी कलम जहर उगलती थी। वृद्धावस्था की परछाई और फीरोज को प्रसन्न करने की अभिलाषा ने वरनी के वृत्तान्त दूषित कर दिये हैं।[२]

वरनी समकालीन सुल्तानों के आदेश से और उनके सामने अपने ग्रन्थ रचा करता था, इसलिये वह ईमानदार इतिहासकार नहीं है। उसने बहुत सी महत्वपूर्ण घटनाएँ बिल्कुल छोड़ दी है। मुहम्मद तुगलक ने घोर हत्या और बेइमानी से राज्य प्राप्त किया था, इसका भी उल्लेख नही किया गया है।[३] वरनी स्वीकार करता है कि मुहम्मद तुगलक के समक्ष सत्य बोलने का साहस नहीं था।[४] अतः वह ढोंग रचता था। राजशेखर ने ऐसा नहीं किया।

तारीख-ए-फीरोजशाही में घटनाओं का कालक्रम दूषित है। उसमें तारीखें कम दी हैं और जो हैं वे शुद्ध नहीं हैं। जो उसे याद था लिख दिया और वही याद रखता था जो उसके मस्तिष्क को प्रभावित करता था।[५] यद्यपि खल्जी शासन की घटनाओं का कालक्रम सही है, तथापि वह मुहम्मद तुगलक के शासन की केवल चार तिथियाँ प्रदान करता है—राज्यारोहण, खलीफा से पद-प्राप्ति, गुजरात अभि-

---

१. रिजवी, सै० अतहर अब्बास (अनु०): आदि तुर्ककालीन भारत, अलीगढ़, १९५६, पृ० ११९।

२. इलियट और डाउसन, तृतीय (हि० अनु०), पृ० ६४।

३. वही, पृ० ६३।

४. बरनी: तारीख-ए-फीरोजशाही, पृ० ५५६-५१७।

५. दे० निजामी, के० ए०, पृ० ४५; इलियट और डाउसन, तृतीय (हि० अनु०), पृ० ६४; हबीब, मो०: द पॉलिटिकल थ्येरी ऑफ द देल्ही सल्तनत, पृ० १२६।

यान और निधन की। उसके समय के विद्रोहों की न तिथि है और *न सही क्रम। इस क्षेत्र में प्रबन्धकोश तारीख-ए-फीरोजशाही से बीस* पड़ता है।

तारीख-ए-फीरोजशाही कहीं-कहीं क्रमहीन और अव्यवस्थित है। विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत विषय-वस्तु का विभाजन पैराग्राफों में होते हुए भी ग्रन्थ का अधिक विकास नहीं हो पाया है। दक्षिण का वर्णन करते समय उत्तर-भारत की अवहेलना कर दी गयी है।

बरनी ने भिन्न-भिन्न सूत्रों से घटनाओं को एकत्र करके जाँचने का प्रयत्न नहीं किया है। उसके विचार से इतिहासकार के लिए पक्का मुसलमान होना पर्याप्त है, उसे किसी प्रमाण की जरूरत नहीं है। बरनी ने इतिहास एकदम नहीं अपितु समय-समय पर लिखा। उसने अपनी 'तारीख' की रचना में समकालीन कृतियों का पूरा-पूरा उपयोग नहीं किया। यदि उसने खुसरो के खजाइन-उल-फुतूह को देखकर अपना प्रारूप संशोधित कर लिया होता तो निश्चित रूप से उसने चित्तौड़, रणथम्भौर, मालवा और दक्कन में अलाउद्दीन के युद्धों की अधिक सूचना दी होती।'[1] अतः इन दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से प्रबन्धकोश के गुण-दोषों पर प्रकाश पड़ता है।

(८) मध्ययुगीन यूरोप के 'क्रॉनिका मॅजोरा' व 'क्रॉनिक्स'

भारतवर्ष और अरब की तरह मध्यकालीन यूरोप में इतिहास-लेखन इतिवृत्त के ही रूप में था। ये अधिकांशतः मठों या गिरजाघरों में लिखे जाते थे;[2] क्योंकि मठों की धनराशि, उनके आवास व प्रसाधन, विद्या के आदर्श सदन के रूप में थे। पूर्वाग्रह व मठ ऐसे मानक और कसौटी बन गये थे जिन पर राजागण और पोप भी कसे जाते थे। इस प्रकार राजमार्गों पर या राजधानियों के समीप स्थित मठ

---

१. लाल, कि० स० : खल्जी वंश का इतिहास, आगरा, १९६४, पृ० ३५२।

२. आदि, पृ० ५२-५९; वडवार्ड, ई० एल० : इम्प्रेशन ऑफ इंग्लिश लिटरेचर, लन्दन, १९४७, पृ० १५१-१५३; लूकास, एच० एस० : ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ सिविलाइजेशन, द्वितीय सं०, न्यूयार्क १९५३, पृ० ४ व आगे।

इतिहास-लेखन के केन्द्र हो गये और आधुनिक समाचार एजेन्सियों की तरह कार्य करने लगे। मध्यकाल का इतिहास अभी भी अपने तथ्यों के लिये परम्पराओं पर निर्भर था क्योंकि उन परम्पराओं की आलोचना करने के प्रभावकारी शस्त्र उसके पास न थे। यूरोप में सन्तों की जीवनियाँ और राजाओं के उत्थान-पतन की कहानियाँ इतिवृत्त के रूप में लिखी गयीं। इस युग में राजागण भी इतिवृत्तों में रुचि रखने लगे। इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन आदि में राजकीय इतिहासकार नियुक्त किये जाने लगे और आज भी स्कॉटलैण्ड में एक है।[१] ब्रिटिश इतिवृत्तों में रुचि-वैविध्य, सूचनाओं की सम्पन्नता और विस्तार की गहनता थी। उनके दृष्टिकोण इतने विस्तृत और वर्णन इतने प्रामाणिक होते थे कि उनकी सहायता से तत्कालीन जर्मनी का इतिहास लिखा गया।[२]

इंग्लैण्ड में ऐतिहासिक सामग्रियों का संकलन और इतिहास-लेखन राजाओं व राजनीतिज्ञों द्वारा प्रोत्साहित किया जाता था। बीडी (निधन ७३५ ई०) ने लैटिन में 'इक्लीजिएस्टिकल हिस्टरी ऑफ द इंग्लिश नेशन' लिखा जिसके अनुवाद में राजा अल्फ्रेड ने भाग लिया था।[३] इंग्लैण्ड के इतिहासकारों में मैथ्यू पेरिस (१२००-५९ ई०) की 'क्रॉनिका मेजोरा' और 'हिस्टोरिया माइनर' इस युग की प्रसिद्ध लैटिन रचनाएँ हैं। मैथ्यू पेरिस सेण्ट अलबंस (लन्दन के समीप) के मठ की परम्परा का अनुयायी था, जहाँ के मठीय वातावरण में इतिवृत्तकारों की एक परम्परा पनपी[४] और उसके पास इतिहास की एक सुनिश्चित अवधारणा थी।[५] मैथ्यू पेरिस के विशालकाय लेखन

१. उडवार्ड, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १४७।

२. स्टब्स : लेक्चर्स ऑन मेडिवल ऐण्ड मॉडर्न हिस्टरी, पृ० १२५।

३. वही, पृ० १४८; इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, ग्रन्थ ११, पृ० ५३२।

४. जोन्स, डब्ल्यू० लेविस : कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इंग्लिश लिटरेचर, जि० १, कैम्ब्रिज, १९६३, पृ० १७८-१८२; हिहिरा, पृ० ७२ व आगे।

५. वाह्न रिचर्ड : मैथ्यू पेरिस, १९५८, जो इरविन, रेमण्ट : द हेरिटेज ऑफ द इंग्लिश लायब्रेरी, लन्दन, १९६४, पृ० १६० से उद्धृत; हिहिरा, पृ० ७२।

१२३५-५९ ई० के बीच की यूरोपीय घटनाओं के महत्वपूर्ण ज्ञान-स्रोत हैं।[1] मैथ्यू इंग्लैण्ड में वेस्ट मिन्स्टर, विन्चेस्टर आदि राजदरबारों के घनिष्ट सम्पर्क में था और अपनी स्पष्टवादिता के कारण उसे राजकीय कृपा भी प्राप्त थी। राजशेखर के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह राजाश्रय का मुखापेक्षी न था।

मैथ्यू पेरिस ऐतिहासिक कागजातों (मैग्नाकार्टा के मूल अंश) में फेरबदल करने से नहीं चूका। उसकी रुचि संकीर्ण थी। उसका न्याय पक्षपातपूर्ण था, फिर भी राजा की नीति की आलोचना लिख लेने का उसमें साहस था। यह सत्य है कि मैथ्यू पेरिस इन आलोचनाओं को दिन का उजाला नहीं दिखाना चाहता था फिर भी उसने अपनी कृति के संशयात्मक गद्यांशों के हासिये पर लैटिन् शब्द 'ऑफेण्डीकुलम्' (अर्थात् 'तनिक दोषयुक्त') लिख देता था।[2]

अंग्रेज इतिवृत्तकारों के मुख्य उद्देश्य थे — विद्वत्ता का आनन्द, स्वाभिमान की अनुभूति, राजाश्रय की प्राप्ति तथा देश-भक्ति की प्रेरणा।[3] ये उद्देश्य मैथ्यू पेरिस और राजशेखर दोनों में पाये जाते हैं।

इतिवृत्तकार के रूप में मैथ्यू की प्रसिद्धि चार कारणों से है। प्रथम, उसे समूचे यूरोप की घटनाओं की जानकारी थी। दूसरे, वह अपने समय के महान राजनीतिज्ञों और महान पुरुषों (हेनरी तृतीय, कार्नवाल के रिचर्ड) से सूचनाएँ प्राप्त करता था। तीसरे, उसके पास प्रामाणिक कागजातों की विशाल संख्या थी, जिन्हें उसने अपने इतिवृत्त या परिशिष्ट में समाहित किया। अन्ततः वह अपनी स्पष्टवादिता और निर्भीक अभिव्यक्ति के लिये भी विश्रुत था जो राजा, राजदरबारी, विदेशी पक्षधर या पोप तक के विरुद्ध व्यक्त हो जाती थी।[4]

---

१. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, ग्रन्थ १७, पृ० २८५।
२. उडवार्ड, पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० २५२-२५३।
३. जोन्स, डब्ल्यू लेविस : पूर्वनिर्दिष्ट, पृ० १५६-१५७।
४. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, ग्रन्थ १७, पृ० २८५।

जिस प्रकार प्रबन्धकोश को परवर्ती ग्रन्थों में साक्ष्य मानकर उद्धृत किया जाता रहा है उसी प्रकार 'क्रॉनिका मेजोरा' को आर्मेनियनों की सेण्ट अलबन्स-यात्रा (१२५२ ई०) की रिपोर्टों में साक्ष्य मानकर उद्धृत किया गया था। ये साक्ष्य १६०२ ई० के पैम्फलेट में भी उद्धृत किये गये हैं।[१]

मैथ्यू पेरिस में जन्मजात इतिवृत्तकार की चेतना, रुझान और न्यायिक क्षमता थी। इसके अलावा वह कलाकार भी था। अपनी ऐतिहासिक पाण्डुलिपियों के हासियों में जीवन्त रेखाओं से चित्र या शील्ड बना दिया करता था। उसने इंग्लैण्ड और फिलीस्तीन के विशिष्ट मानचित्र बनाये हैं जिनकी गणना मध्यकाल के दुर्लभ चित्रों में की जाती है।[२]

उधर फ्रांस में जाँ फ्रोईसार (१३३७-१४०४ ई०) ने जो क्रॉनिक्यू (क्रॉनिकल्स) लिखा उसका नाम 'फ्रांस फ्लैण्डर्स इंग्लैण्ड, स्कॉटलैण्ड और स्पेन के इतिवृत्त' है जो चौदहवीं शताब्दी के रंगीन क्रिया-कलापों का फ्रांसीसी गद्य में स्पष्ट चित्रण करते है। प्रबन्धकोश और इन इतिवृत्तों के उद्देश्यों में समानता है। ये इतिवृत्त पाठकों को आनन्द प्रदान करने के लिए रचे गये थे और इस उद्देश्य में फ्रोईसार सफल भी हुआ।[१] प्रबन्धचिन्तामणि और प्रबन्धकोश के उद्देश्यों के समान इन ग्रन्थों का उद्देश्य भी पाठकों का मनोरञ्जन करना था।

राजशेखर की भाँति जाँ फ्रोईसार ने व्यापक भ्रमण भी किया। फ्रोईसार १३६१ ई० में इंग्लिश चैनल पार कर मार्गरेट की बहन फिलिप्पा हैनाऊ के सचिव व लेखक के रूप में १३६९ ई० तक सेवारत रहा। वह डेविड ब्रूस के साथ १३६५ ई० में स्कॉटलैण्ड और ब्रिटेन गया। ड्यूक क्लैरेन्स के साथ वह फेरारा, बोलोन और रोम भी घूमा। फिलिप्पा की मृत्यु के बाद वह हैनाऊ लौटा और फिर फ्लैण्डर्स

१. वही, ग्रन्थ १३, पृ० ३२।

२. वही, ग्रन्थ १४, पृ० ८४७ सी; ग्रन्थ १७, पृ० २८५।

३. द इन्साइक्लोपीडिया अमेरिकाना, जि० १४, १९५९, पृ० २१३; हिहिरा, पृ० ७६ व आगे।

में उसे अनेक आश्रयदाता मिले। राजशेखर की भाँति जाँ फ्रोईसार में जीवनी-सादृश्य भी पाया जाता है। राजशेखर को क्रमशः गच्छ-वृद्धि, दीक्षा, वाचनाचार्य पद, सूरिपद और मुहम्मद तुगलक के दरबार में स्वागत-सत्कार प्राप्त हुए थे। उसी प्रकार फ्रोईसार को १३७३ ई० में पादरी-पद, १३८१ ई० में ब्लोई काउण्टी में निजी चैप्लेन-पद, १३८९ ई० में महारानी इसाबेला के राजशाही स्वागत-समारोह में आमन्त्रण तथा १३९५ ई० में इंग्लैण्ड के राजा रिचर्ड द्वितीय द्वारा शानदार स्वागत-सत्कार प्राप्त हुए थे।

विस्तृत भ्रमण एवं विभिन्न पदों पर आसीन रहने का प्रभाव फ्रोईसार के इतिहास-लेखन पर यह पड़ा कि भिन्न-भिन्न समयों में वह अपने क्रॉनिक्यू (क्रॉनिकल्स) मूल इतिवृत्त के विभिन्न भागों को पूरा करता रहता और संशोधनों, नवीन अध्यायों एवं नयी सामग्रियों से युक्त करता रहता था। फ्लैण्डर्स पर उसने अधिक लिखा है। जब उसका ध्यान स्पेन-पुर्तगाल युद्धों की ओर गया, वह स्वयमेव सूचना प्राप्त करने के लिये कई राजाओं के दरबार में रुका। उसके आन्तरिक साक्ष्य प्रमाणित करते हैं कि फ्रोईसार ने १४०४ ई० के अन्त में अपनी इंग्लैण्ड यात्रा का विवरण दिया था।[1]

राजशेखर के प्रबन्धकोश की भाँति फ्रोईसार के लेखों और क्रॉनिकल्स में गद्यात्मकता और उपदेशात्मकता पाई जाती है। फ्रोईसार नाइटों की शूरता और गद्य में रचे क्रॉनिकल्स के लिए सर्वाधिक याद किया जाता है। जिस प्रकार राजशेखर ने विविधतीर्थकल्प का उपयोग किया और अपने पूर्ववर्तियों से प्रबन्ध-कला ग्रहण की उसी प्रकार जाँ फ्रोईसार ने इतिवृत्त-कला जाँ ल बेल के लेखों से सीखी होगी क्योंकि 'क्रॉनिकल्स' भाग एक के प्रथम संस्करण में जाँ ल बेल द्वारा वर्णित घटनाओं का ही उल्लेख है।[2]

जाँ फ्रोईसार ने अपने स्रोतों का उपयोग सम्मानपूर्वक किया है किन्तु घटनाओं के इतने समीप रहते हुए भी उसमें अपने युग का सन्तुलित चित्रांकन करने की राजनीतिक मेधा का अभाव था। एक

---

१. इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, ग्रन्थ ९, पृ० ९५३।

२. वही, पृ० ९५४।

तो, प्रबन्धकोश के प्रतिकूल क्रॉनिकल्स राजकीय आश्रयदाताओं के तत्वावधान में लिखे गये थे। दूसरे, उनके विभिन्न भागों में आश्रय-दाताओं के विरोधी विचार प्रविष्ट कर गये हैं जिससे फ्रोईसार के वर्णन सर्वदा संगत नहीं रह सके हैं।

प्रबन्धकोश की अपेक्षा क्रॉनिकल्स में समकालीन वर्णन अधिक है। क्रॉनिकल्स के पहले भाग तथा तीसरे के प्रारम्भिक पृष्ठों में समकालीन घटनाओं का पूर्ण लेखा-जोखा नहीं है, तथापि शेष में समकालीनत्व पाये जाते हैं।

प्रबन्धकोश एक दिशा में क्रॉनिकल्स से बढ़ जाता है। राजशेखर ने आचार्य, कवि, राजा और सामान्य वर्गों की ओर रुचि प्रदर्शित की है, परन्तु जाँ फ्रोईसार सामन्त और सैन्यवर्ग को छोड़कर समाज के किसी अन्य वर्ग में रुचि प्रदर्शित न कर सका।

इस प्रकार मैथ्यू पेरिस की क्रॉनिका मेजोरा तथा जाँ फ्रोईसार की क्रौनिक्यू से प्रबन्धकोश की तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रबन्धकोश के लेखन में उक्त दोनों ग्रन्थों के समान लेखन-सुविधा न होते हुए भी प्रबन्धकोश का प्रणयन विधर्मियों के राज्य में किया गया जिसमें उक्त दोनों कृतियों की अपेक्षा ऐतिहासिकता कम नहीं है।

(९) किताब अल-इबर तथा 'मुकद्दमा' (१३८६ ई०)

अब तक प्रबन्धकोश की तुलना कई ग्रन्थों से की गयी है। एक विदेशी इतिहासकार के दो ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिनसे उसकी समता करने में बड़ी कठिनाई होती है। ऐसे विषमतापरक ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय भी तुलनात्मक अध्ययन का अंग हो सकता है।

मध्यकालीन अरबी इतिहासशास्त्र का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि इब्न खल्दून (१३३२-१४०६ ई०) था जिसने मुस्लिम-जगत्, विशेषतः मगरिब अर्थात् पश्चिम (अल्जीरिया, ट्यूनिस और मोरक्को) का प्रामाणिक इतिहास अपनी विख्यात रचना 'किताब अल-इबर व दीवान-अल-मुबतदावलखबर-फी-अय्याम-अल-अरब-वल-अजम-वल-बर्बर' में लेखबद्ध किया और उसने 'मुकद्दमात' (प्रस्तावना) में

इतिहास-दर्शन का अभूतपूर्व प्रतिपादन किया।[1] इब्न खल्दून में मानवीय एवं सांस्कृतिक विकास के सिद्धान्तों की पकड़ किसी भी मध्यकालीन ईसाई इतिहासकार से अधिक थी। वाल्तेयर के समय तक ईसाई जगत् का कोई भी इतिहासकार उसकी समता नहीं कर सकता है। उसने 'मुकद्दमे' में ऐसे इतिहासदर्शन का प्रतिपादन किया है जिसकी कल्पना किसी ने किसी भी देश या किसी भी काल में नहीं की है।

राजशेखर ने इतिहास के लिये सामान्यतया प्रयुक्त होने वाले शब्दों इतिवृत्त, वृत्या, प्रागुक्त वृत्त, प्राचीन वृत्त, सत्यवार्ता, कीर्तन आदि का व्यवहार किया है। लेकिन इब्नखल्दून इतिहास के लिए सामान्यतया प्रयुक्त शब्द 'तारीख' के स्थान पर अधिक व्यापक शब्द 'इबर' (विवेक या बोध) का चयन करता है। वह पहला इतिहासकार है जिसने सार्वभौमिक अर्थात् इस्लामी विश्व के इतिहास का विवरण प्रदान किया है। उसका प्रयोजन एक कदम और आगे बढ़कर इतिहास से सीखना था, कारणों का सम्यक् विश्लेषण कर उनमें निहित रहस्यों को समझाना और उनका 'इबर' (बोध) करना था।[2]

राजशेखर ने इतिहास और परम्परा का वर्णन तो किया है किन्तु उन्हे समझाया नहीं है। इब्नखल्दून ने इतिहास और हदीस (परम्परा) में अन्तर स्थापित करते हुए कहा है कि हदीस का सम्बन्ध विध्यात्मक आदेशों से है जबकि इतिहास का सम्बन्ध वास्तविक घटनाओं से है। ऐतिहासिक विवरण आदेश नहीं होते, अपितु घटनाओं के सकारात्मक अथवा नकारात्मक वक्तव्य होते हैं जो सत्य या मिथ्या होते है। फलतः उसने 'मुकद्दमे' की प्रस्तावना में इतिहासकारों की भूलों के सम्बन्ध में १२ उदाहरण पेश किये है।

---

१. हिट्टि, पृ० ९४ व ९६; इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, ग्रन्थ १२, पृ० ३५; पाण्डे, गो० च० (सम्पा०) : इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धान्त, पृ० १२१-१२३; बुद्धप्रकाश : इतिहास दर्शन, हि० समिति, लखनऊ, १९६८, पृ० ४७; विशेष जानकारी के लिये दे० इन्साइक्लोपीडिया ऑफ इस्लाम तथा ह्यूजेस की 'ए डिक्शनरी ऑफ इस्लाम'; लन्दन, १९३५।

२. पाण्डे, गो० च० : इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धान्त, पृ० १२१-१२२।

राजशेखर ने इतिहास की एक विधा जैन-प्रवन्ध की परिभाषा अवश्य दी, किन्तु इब्न खल्दून ने सर्वप्रथम इतिहास की एक समाज-शास्त्रीय परिभाषा दी -- "इतिहास मानव-समाज, विश्व-संस्कृति, सामाजिक परिवर्तनों, क्रान्ति और विद्रोह के परिणामस्वरूप राष्ट्रों के उत्थान और पतन का वृत्तान्त है।"[१] राजशेखर ने समाज में वर्ग-संघर्षों की अनुभूति अवश्य की थी। उसने वर्ग-संघर्ष के केवल धार्मिक और कुछ सीमा तक आर्थिक आधारों का उल्लेख किया था। परन्तु इब्न खल्दून के अनुसार समाज के अन्दर विकास, परिवर्तन और गति होती है। समाज का स्वरूप 'असबिया' (सामूहिकता) से बनता है। 'असबिया' रक्त सम्वन्ध, सामूहिक भावना, पारस्परिक निकटता और आदान-प्रदान से उत्पन्न होती है। जब 'असबिया' की भावना शनैः-शनैः क्षीण होती जाती है तब समाज का भी क्षय होता जाता है।

राजशेखर ने समूचे ग्रन्थ के केवल चार प्रबन्धों (हर्पकवि, हरिहरकवि, अमरचन्द्रकवि और मदनकीर्ति) में मौलिकता प्रदर्शित की है। उसे अनेक प्रबन्धों का ज्ञान था जिनसे उसने सामग्री ग्रहण की। परन्तु इब्न खल्दून में आश्चर्यजनक मौलिकता थी, क्योंकि उसे यूनानी कृतियों का ज्ञान नही था। उसने विखरे हुए राजनीतिक और सामाजिक विचारों को इतिहास मे पिरोया जिसे वह अतीत और वर्तमान को जोड़ने की एक जीवन्त शक्ति मानता था।[२] उसका सक्रिय और उद्वेलित जीवन उसे पश्चिम में पेद्रो और पूर्व में तैमूर के सम्पर्क में ले आया। इब्नखल्दून के ग्रन्थो के अध्ययन से प्रवन्धकोश की कमियों का उद्घाटन होता है क्योंकि तुलनात्मक अध्ययन का उद्देश्य ही गुण-दोषों को छानना होता है।

इस प्रकार समानविषयक जैनप्रवन्धों, राजतरंगिणी, मध्ययुगीन भारत के मुस्लिम ग्रन्थों, तारीख ए-फीरोजशाही, तत्कालीन यूरोप के क्रॉनिका मेजोरा व 'क्रॉनिक्य्' तथा किताव अल-इवर व मुकद्दमा से प्रवन्धकोश की तुलना की गयी। फलतः दो महाद्वीपों के उक्त जैन-

१. दे० इब्ने खल्दून का 'मुकद्दमा' (विश्व इतिहास की प्रस्तावना, हि० अनु०) रिजवी, हिन्दी समिति, लखनऊ, १९६१, पृ० ७१।

२. रोसेन्थल : ए हिस्टरी ऑफ मुस्लिम हिस्टोरियोग्रैफी, १९५२, पृ० १०४।

जैनेतर, भारतीय एवं विदेशी ऐतिहासिक ग्रन्थों के तुलनात्मक अध्ययन से एक ओर प्रबन्धकोश के गुण-दोष प्रकाशित होते हैं तथा दूसरी ओर भारतीयों पर लगे इतिहास के अभाव-आरोप का प्रक्षालन भी होता है।

निःसन्देह प्रबन्धकोश जैन इतिहासशास्त्र का एक अनमोल ग्रन्थ है।

अध्याय ९

उपसंहार

प्रवन्धकोश के ऐतिहासिक विवेचन से यह सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ जैन इतिहास के विकासक्रम की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। जब से राजशेखर ने उत्तर भारत में स्थापित ऐतिहासिक परम्परा को आगे बढ़ाया, जैन-प्रबन्ध इतिहास की एक मानक-परम्परा के रूप में स्वीकार किये जाने लगे। फलतः इतिहासलेखन की इस विधा का प्रभाव मराठी बखर पर पड़ा।

राजशेखरसूरि प्रभावक आचार्य और इतिहासकार दोनों थे। व्यापक अध्ययन और परिभ्रमण की उनके प्रवन्धकोश पर अमिट छाप पड़ी। सूरि-पद प्राप्त कर लेने तथा तुगलक दरबार में प्रतिष्ठा अर्जित कर लेने से राजशेखर की प्रस्थिति में वृद्धि हुई। ऐसी प्रस्थिति में उन्होंने जो भूमिका अदा की वह जैन इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगी। लेकिन प्रवन्धकोश ने राजवंशीय इतिहास की भाँति भारत के केवल कुछ ही राज्यों का विवरण प्रदान किया है। इस दृष्टि से राजशेखर द्वारा प्रदत्त इतिहास कभी भी समूचे भारतवर्ष का इतिहास नहीं कहा जा सकता है।

कहीं-कहीं प्रवन्धकोश का उद्देश्य उपदेशात्मक भी हो गया है जो इसका दोष है। इतिहास का स्वरुप उपदेशात्मक नहीं होना चाहिये। श्रीदेवी द्वारा मृत शूद्रक का अमृत से अभिसिक्त हो पुनः जीवित हो जाना, सिंहासन की चारों काष्ठ-पुतलियों का हँसना, पुनर्जन्म तथा वेतालिक कथा आदि अतिमानवीय, दैवी, तिलस्मी जान पड़ते हैं। फिर भी कल्हण ने तो कश्मीर में और मेरुतुङ्ग ने गुजरात में इतिहास रचा था किन्तु राजशेखर ने जैन होते हुए भी मुसलमानों के हृद-प्रदेश दिल्ली में प्रवन्धकोश का जो साहसपूर्वक प्रणयन किया वह कम स्तुत्य नहीं है।

न तो वह राजकीय आश्रय का मुखापेक्षी था और न वह स्वयं घटनाओं के बीच में आता था। वह अपने स्रोतों के प्रति इतना

ईमानदार था कि उसने प्रबन्धचिन्तामणि का नामोल्लेख किया ही है, साथ ही साथ नैषध महाकाव्य के ११वें सर्ग के ६४वें पद को ससन्दर्भ उद्धृत किया है और काव्य की सर्ग तथा पद संख्या भी दी है। जिस भावना से राजशेखर ने अपने स्रोतों का उपयोग किया है, उससे वह इतिहासकार कहलाने का अधिकारी हो जाता है।

प्रबन्धकोश को साक्ष्य के रूप में मान्यता प्रदान करने वाले ग्रन्थों में जिनमण्डन कृत कुमारपालचरित से लेकर बल्लाल कृत भोजप्रबन्ध तक दर्जनों ग्रन्थ हैं जो प्रबन्धकोश के उद्धरण भी देते हैं। अतः इन साक्ष्यों से प्रमाणित होता है कि प्रबन्धकोश की विद्वत् समाज में मान्यता थी और उसे उद्धृत करना एक गौरव की बात समझी जाती थी। यह प्रबन्धकोश की ऐतिहासिकता और प्रामाणिकता को द्विगुणित करती है।

राजशेखर ने इतिहास को स्रोतों के अलावा परम्पराओं पर भी आधारित माना। उसकी इतिहासप्रियता का प्रमाण विरोधी व विविध परम्पराओं को भी अपने ग्रन्थ में समादृत और आत्मसात् करके प्रबन्धकोश का प्रणयन करना है क्योंकि ऐतिहासिक विद्वत्ता तो परम्पराओं एवं मापदण्ड की खोज में लीन रहती है जिसके अनुसार ही ग्रन्थ की रचना और उस रचना का मूल्यांकन होता है।

प्रबन्धकोश का प्राथमिक कार्य सत्योद्घाटन करना रहा है। राजशेखर के सशक्त हाथों में एक ओर लेखनी है और दूसरी ओर परम्पराओं का अनुमोदन। पूर्व लेखन को न्यायसंगत ठहराते हुए वह मध्यस्थ का कार्य करता है। लेखनी यदि वर्तमान हुई तो परम्पराएँ, अतीत, जो परस्पर अनन्त वार्तालाप करती हैं। चूंकि प्रबन्धकोश का स्वरूप गद्यात्मक है इसलिये यह इतिहास के अधिक निकट आ जाता है। इसका सरल गद्य पाठकों के हृदय को छू लेता है जिसमें साहित्यिक दुरूहता, अलंकरण-प्रियता और अतिशयोक्ति की अपेक्षाकृत कम सम्भावना रहती है।

एक अजैन द्वारा रचित ग्रन्थ पर 'न्यायकन्दली पञ्जिका' टीका लिखना राजशेखर की धर्म-निरपेक्षता का परिचायक है। वह पूर्वाग्रह से मुक्त था। स्वयं श्वेताम्बर होते हुए भी उसने दिगम्बरों की विजय

एवं दिगम्बर मदनकीर्ति पर एक समूचा प्रबन्ध लिखा। बौद्धधर्म की बातों और यामिनी भाषा के शब्दों का भी अपने ग्रन्थ में उसने यत्र-तत्र प्रयोग किया है। इस प्रकार राजशेखर की लेखनी ने साम्प्रदायिकता की सीमा तोड़ दी। फलतः राजशेखर हृदय और लेखनी दोनों से धर्म-निरपेक्ष था।

कालक्रम ने भी उसके इतिहास-दर्शन की एक कसौटी का कार्य किया है। राजशेखर के इतिहास-दर्शन की आधारशिला यदि उसके स्रोत हैं तो कालक्रम वे ईंटें हैं जिन पर उसने इतिहास भवन का निर्माण किया। प्रबन्धकोश ने लगभग १०३० वर्षों की कालक्रमीय अवधि को समेटा है जिसके लिए राजशेखर का प्रयास स्तुत्य है। उसने प्रबन्धकोश को तिथियों और कालक्रम से जैसा गुम्फित कर दिया है उससे प्रतीत होता है कि राजशेखर को इतिहास की सच्ची पकड़ थी। अतः प्रबन्धकोश का ऐतिहासिक मोल उसके कालक्रमीय आँकड़ों में है। यद्यपि प्रबन्धकोश की कतिपय तिथियाँ कुछ महीनों या दिनों की गणना में त्रुटिपूर्ण है तथापि यह सहज निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मेरुतुङ्ग के अलावा राजशेखर जैन प्रबन्धकारों में प्रथम लेखक है जिसने कालक्रम को इतिहास का एक अभिन्न अंग माना और उसका निर्वाह भी किया है।

प्रबन्धकोश में समकालीन तथ्यों को प्रस्तुत करने की भरसक चेष्टा की गयी है। ऐसा प्रयास और साहस उसके पूर्व के किसी भी प्रबन्ध ग्रन्थ में, यहाँ तक कि प्रबन्धचिन्तामणि में भी नहीं दीख पड़ता है। राजशेखर ने प्रबन्धकोश में न केवल 'प्रबन्ध' की परिभाषा दी अपितु उसने इतिहास को, जो अब तक केवल युद्धों और राजसभाओं तक सीमित था, सामान्यजन के धरातल पर ला खड़ा कर दिया। अतः ऐतिहासिक विकासक्रम में राजशेखर का यह महत्वपूर्ण योगदान है। इसलिए भी राजशेखर के प्रबन्धों को इतिवृत्त के बजाय इतिहास कहना अधिक उपयुक्त होगा।

एक शोधकर्ता की भाँति राजशेखर ने नवीन तथ्यों की प्रस्तुति, उपलब्ध तथ्यों की नयी व्याख्या और तथ्यों का सिद्धान्ततः निरूपण किया है। तथ्यों के इसी सैद्धान्तिक निरूपण के समय राजशेखर का

इतिहास-दर्शन उद्‌भूत हो जाता था। चूंकि राजशेखर ने अपने ज्ञान को तीन क्षेत्रों में विभाजित किया था, यथा— (१) साहित्य, (२) इतिहास और (३) दर्शन जिनमें कल्पना, स्मृति और बुद्धि का क्रमशः सन्तुलित उपयोग किया गया था, इसलिये उसने इतिहास को स्मृति के अलावा परम्पराओं, अनुश्रुतियों और चक्षुर्दर्शियों पर भी आधारित किया था। इस प्रकार राजशेखर ने इतिहास को साहित्य के घेरे से बाहर किया और उसे स्वतन्त्र शास्त्र का दर्जा प्रदान किया और उसने इतिहास-लेखन को इतिहास-दर्शन के स्रोतों, साक्ष्यों, परम्पराओं, कारणत्व एवं कालक्रम पर आधारित किया।

अतः प्रबन्धकोश एक महत्वपूर्ण इतिहास ग्रन्थ है और राजशेखर अपने युग का निस्सन्देह एक इतिहासकार है। किसी युग का इतिहासकार वह व्यक्ति होता है जो उस युग की आकांक्षाओं को वाणी दे सके और युग को बता सके कि युग की आकांक्षाएँ क्या हैं? राजशेखर ऐसा ही था।

परिशिष्ट

(१) प्रमुख जैन-प्रबन्ध

प्रमुख जैन-प्रबन्धों के ग्रन्थ-नाम, ग्रन्थकार-नाम और रचना-तिथियाँ निम्नलिखित हैं—

(क) प्रारम्भिक जैन-प्रबन्ध

क्र० सं०	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	रचना-तिथियाँ
१.	प्रबन्धावलि	जिनभद्र	१२३४ ई०
२.	प्रभावकचरित	प्रभाचन्द्र	१२७७ ई०
३.	प्रबन्धचिन्तामणि	मेरुतुङ्ग	१३०५ ई०
४.	पुरातन-प्रबन्ध-सङ्ग्रह	सम्पा०, जिनविजय	-----
५.	विविधतीर्थकल्प	जिनप्रभसूरि	१३३२ ई०
६.	प्रबन्धकोश	राजशेखरसूरि	१३४९ ई०

(ख) परवर्ती जैन-प्रबन्ध

क्र० सं०	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	रचना-तिथियाँ
७.	कुमारपालचरित	जयसिंहसूरि	१३६० ई०
८.	जगडुचरित	सर्वानन्द	१४वीं शती
९.	कुमारपालप्रबन्ध	सोमतिलक	१४वीं शती
१०.	कुमारपालचरितसंग्रह	सम्पा०, जिनविजय	१४०७ ई०
११.	कुमारपालप्रबन्ध	जिनमण्डनगणि	१४३६ ई०
१२.	कान्हददे-प्रबन्ध	पद्मनाभ	१४५६ ई०
१३.	प्रबन्धराज या भोजप्रबन्ध*	रत्नमण्डनगणि	१४६० ई०
१४.	भोजप्रबन्ध*	राजवल्लभ	१४७३ ई०

* फतेहचन्द्र बेलानी ने इन ग्रन्थों को कथा-चरित वर्ग में रखा है। दे०, जैन-ग्रन्थ और ग्रन्थकार, बनारस, १९५०; पृ० ४३, पृ० ४५।

क्र० सं०	ग्रन्थ-नाम	ग्रन्थकार-नाम	रचना-तिथियाँ
१५.	पञ्चदण्डछत्रप्रबन्ध	पूर्णचन्द्र	१५वीं शती
१६.	विमलप्रबन्ध	लावण्यसमय	१५१२ ई०
१७.	रत्नश्रावक-प्रबन्ध*	सहजसुन्दर	१५२५ ई०
१८.	माधवनल-दोग्धक प्रबन्ध	गणपति	१५२८ ई०
१९.	कर्मचन्द्र-वंश-प्रबन्ध	जयसोम उपाध्याय	१५९३ ई०

(२) प्रबन्धकोश में वर्णित ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थ	पृष्ठ	ग्रन्थ	पृष्ठ
अनेकान्तजयपताका	२५	दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र	२
अष्टक	२५	दीपिका कालिदास	६२
आचाराङ्ग	२	द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका	१८
आवश्यकसूत्र	२, २४	नयचक्र	२२, २३
उत्तराध्ययन	२	नागमत पुराण	५६, ८८
उपमितिभवप्रपञ्चा (कथा)	२६	नाणायसक	२५
उवसग्गहर (स्तव)	४	निर्वाणकलिका	१४
ऋषिभाषित (सूत्र)	२	नैषध	५५, ५६, ६०.
कर्मप्रकृति (ग्रन्थ)	११३	न्यायावतारवृत्ति	२६
कल्पसूत्र	२	पञ्चलिङ्गी	२५
कलाकलाप	६१	पञ्चवस्तुक	२५
कल्याणमन्दिर (स्तव)	१८	पञ्चसूत्र	२५
काव्यकल्पलता	६१	पञ्चाशत्	२५
खण्डनखण्डखाद्य	५५	पद्मानन्द (काव्य)	६३
गौड़वध	३७	पार्श्वनाथ द्वात्रिंशिका	१८
छन्दोरत्नावली	६१	प्रबन्धकोश	१३१
ठाणावृत्ति	६७	प्रबन्धचिन्तामणि	४७
तरङ्गलोला	१४	प्रभासपुराण (पुराणखण्ड)	९४
दशवैकालिकसूत्र	२	प्रश्नप्रकाश	१४

* पूर्वोक्त, पृ० ४३, पृ० ४५।

(३) राजशेखर द्वारा वर्णित स्थानों की सूची

स्थान	पृष्ठ
वामनस्थली	६२, १०३, १०४
वायट (महास्थान) नगर	७, ८, ६१
विमलगिरि (पर्वत)	४२, ४९, १२८
शत्रुञ्जय (गिरि, तीर्थ)	१२, १४ आदि (बीस बार)
शाकम्भरी	५०, ५१, ५२
श्रीमालपुर	२५, २६, ४८
सपादलक्ष	५१, ५२, १३१
सुराष्ट्र (देश)	२२, ४२, ४७, ८४, १०१, १०३
स्तम्भ (तीर्थ, पुर)	४२, १०३ आदि (ग्यारह बार)

(४) प्रबन्धकोशान्तर्गत प्रयुक्त यावनी भाषा के शब्द

प्रबन्धकोश में मुसलमानों के लिए 'म्लेच्छ', 'मुद्‌गल', 'यवन' तथा 'तुरुष्क' और सुल्तान के लिये 'सुरत्राण' संस्कृत शब्द प्रयुक्त किये गये हैं*। परन्तु जैन-प्रबन्धों में यावनी भाषा के शब्दों के भी यत्र-तत्र प्रयोग किये गये हैं। विविधतीर्थकल्प की तुलना में प्रबन्धकोश में ऐसे शब्दों की रचना मुस्लिम-बहुल प्रदेश की राजधानी में हुई थी। प्रबन्धकोश, 'साहित्य समाज का दर्पण है', इस सूत्र को सार्थक सिद्ध करता है। इस सम्बन्ध में निम्नलिख तालिका द्रष्टव्य है—

क्र० सं०	यावनी भाषा के शब्द	प्रको, पृष्ठ	वितीक, पृष्ठ
१	तोबा	११७	
२	निसरदीन सुरत्राण (सुल्तान)	११३	
३	बीबी (प्रेमकमला या हूरा)	११८	
४	मसीति (मस्जिद)	११९	
५	महम्मद साहि (शाह)	१३१	४६, ९५

* दे० प्रको, पृ० २३, ५८ आदि; १०९, ११७, १३३, १३४। 'सुरत्राण' शब्द के स्वतन्त्र उल्लेख के लिये दे० वही, पृ० ५७-५८, पृ० १३३ तथा वितीक; पृ० ४६; पृ० ९६।

क्र० सं०	यावनी भाषा के शब्द	प्रको, पृष्ठ	वितीक, पृष्ठ
६	महम्मद सुरत्राण (सुल्तान)	१३३	४५
७	मुद्गल (मंगोल अर्थात् मुसलमान)	१०९	
८	मोजदीन सुरत्राण (सुल्तान)	११७, ११८, ११९	
९	वगुलीसाह सुरत्राण (सुल्तान)	१३३	
१०	वेगवरिस	१३३	
११	सदीक (नौवित्तक)	१०८, १०९	
१२	समसदीन तुरुष्क (सुरत्राण) (तुर्क सुल्तान)	१३३, १३४	६५
१३	सहावदीन सुरत्राण (सुल्तान)	११७, १३३	४५, १०६
१४	हजयात्रा	११९	
१५	हेजिबदीन	१३३	

उपर्युक्त तालिका में प्रवन्धकोश के पृष्ठों की संख्या देखने से यह विदित होता है कि इसमें यावनी भाषा के शब्दों के प्रयोग ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में किये गये हैं।

(५) तुगलक वंश के इतिहास के जैन साधन

तुगलक वंश के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए कतिपय जैन-स्रोत महत्वपूर्ण हैं। गयासुद्दीन तुगलक (१३२१-२५ ई०), मुहम्मद बिन तुगलक (१३२५-५१ ई०) तथा फीरोजशाह तुगलक (१३५१-८८ ई०) के राज्य और प्रान्तीय शासकों के राज्यों में जैनधर्म, जैनाचार्यों के क्रिया-कलाप, जैन साहित्य, मन्दिर, तीर्थ आदि की स्थिति पर कई ग्रन्थ प्रकाश डालते हैं।

(क) **शत्रुञ्जयतीर्थोद्धार प्रबन्ध**[1] (अपरनाम नाभि नन्दनोद्धार प्रबन्ध)[2]

'इसमें गुजरात के पाटनगर के प्रसिद्ध जौहरी और प्राचीन स्वतन्त्र

१. इसकी रचना उपकेशगच्छीय सिद्धसूरि के पट्टधर शिष्य कक्कसूरि ने १३३५ ई० में की थी। इसी के लगभग समरसिंह का स्वर्गवास हुआ था।

२. जिरको, पृ० २१०, पृ० १७२, हेमचन्द्र ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित।

गुजरात के अन्तिम महाजन समरसिंह (समराशाह) के परिवार का तथा उसके धार्मिक कार्यों का अच्छा वर्णन किया गया है।[1]

तुगलक वंश के सुल्तानों और उनके प्रान्तीय शासकों की महत्वपूर्ण सूचनाएँ दी गई हैं जो तत्कालीन भारत के धार्मिक इतिहास के निर्माण में सहायक सिद्ध हुई हैं। समराशाह तीन भाई थे। बड़ा सहजपाल देवगिरि (दौलताबाद) में बस गया था। मझला साहण खम्भात में बसकर अपने पूर्वजों की कीर्ति फैला रहा था और समराशाह पाटन में रहकर प्रभावशाली बना था। तत्कालीन दिल्ली का सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक उस पर बड़ा स्नेह करता था और उसने उसे तैलंगाने का सूबेदार बनाया था। गयासुद्दीन का उत्तराधिकारी मुहम्मद तुगलक भी उसे भाई जैसा मानता था और अपने समय में भी उसने उसे उक्त पद पर रहने दिया। उसने अपने प्रभाव से पाण्डु देश के स्वामी वीर-वल्ल को सुल्तान के चंगुल से छुड़ाया और मुसलमानों के अत्याचार से अनेक हिन्दुओं की रक्षा की। उसने उन मुसलमान शासकों के काल में जैन धर्म-प्रभावना के अनेक कार्य किये।

(ख) जिनप्रभसूरिकृत : विविधतीर्थकल्प

इससे भी तुगलक वंश के राज्यकाल में जैनधर्म की स्थिति की अनेक सूचनाएँ मिलती हैं।[2] इन शासकों के राज्यकाल में जैनों को अच्छा प्रश्रय मिलता रहा है। माण्डवगढ़ में अनेक धनाढ्य और प्रभावक जैन व्यापारी थे। उनमें से कुछ को समय-समय पर राजमन्त्री या प्रधान-मन्त्री व अन्य अनेक विशिष्ट पदों को सँभालने का अवसर मिला था। माण्डवगढ़ के सुल्तान होशंगसाह गोरी (१४०५-३२ ई०) का महा-प्रधान मण्डल नामक जैन था जो बड़ा शासन कुशल और महान् साहित्यकार था। उसके द्वारा रचे ग्रन्थों की प्रशस्तियों में बतलाया

---

१. देसाई, मो० द० : जैन साहित्यनो संक्षिप्त इति०, पृ० ४२४-४२७; शेठ, चि० भा० : जैनिज्म इन गुजरात, पृ० १७१-१८० में समरसिंह का चरित्र सविस्तर दिया गया है।

२. दे० जैन, ज्योति प्रसाद : भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, पृ० ४११-४१६।

गया है कि किस तरह उसके पूर्वज विभिन्न राजदरबारों में विशिष्ट पदों पर थे।[1] मण्डन के पश्चात् भी उसके वंशधर मालवा शासकों के कुशल सहायक एवं पदाधिकारी बने रहे।

(ग) सुमतिसम्भवकाव्य[2]

इसमें तपागच्छीय विद्वान् कवि सुमतिसाधु का जीवनचरित निबद्ध करने का उपक्रम किया गया है। इससे कहीं अधिक उपयोगी सामग्री माण्डवगढ़ के धनाढ्य व्यापारी संघपति जावड़ की सामाजिक प्रतिष्ठा और धर्मनिष्ठा के विषय में मिलती है। यह सर्वविजयगणि द्वारा रचित है। इसका रचनाकाल १४९०-९४ ई० के बीच है।

(घ) जावडचरित्र और जावडप्रबन्ध[3]

जावड़ (१६वीं शताब्दी के मध्य) मालवा के माण्डवगढ़ का धनाढ्य व्यापारी था और साथ में मालवा के तत्कालीन सुल्तान गयासुद्दीन खल्जी (१४८३-१५०१ ई०) का राज्याधिकारी भी था। जावड़ का चरित्र उक्त (ग) में विस्तार से मिलता है। सम्भवतः ये दोनों काव्य भी उस समय अर्थात् १४९०-९४ ई० के बीच रचे गये हों।

(ङ) राजशेखरसूरि का प्रबन्धकोश

इसकी ग्रन्थकार-प्रशस्ति से तुगलककालीन साहित्यिक व धार्मिक क्रिया-कलापों पर थोड़ा प्रकाश पड़ता है।

---

१. यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित दौलत सिंह लोढ़ा का लेख : मन्त्री मण्डन और उसका गौरवशाली वंश।

२. जिरको, पृ० ४४६।

३. वही, पृ० १२४।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

(क) मौलिक ग्रन्थ

(१) जैन ग्रन्थ

उदयप्रभसूरि — धर्माभ्युदय-महाकाव्य, सिजैग्र, २५, बम्बई ।

उदयप्रभसूरि — सुकृत कीर्तिकल्लोलिनी, (सम्पा०) सी० डी० दयाल, जी ओ एस दसवाँ (एपे०, पृ० ६९-९०), वड़ौदा, १९२०; (सम्पा०) पुण्यविजय सूरि, बम्बई, १९६० ।

जयसिंहसूरि — वस्तुपाल-तेजपाल-प्रशस्ति, (सम्पा०) सी० डी० दयाल, जी ओ एस दसवाँ, एपे० १, बड़ौदा, १९२० ।

जयसिंहसूरि — कुमारपालभूपालचरित, (सम्पा०) क्षान्तिविजयगणि, विजयदेव सूरि संघ, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२६ ।

जिनप्रभसूरि — विविधतीर्थकल्प या तीर्थकल्प या कल्पप्रदीप, सिजैग्र १०, शान्ति निकेतन, १९३४ ।

जिनप्रभसूरि — विधि मार्ग प्रपा नाम सुविहित सामाचारी, (सम्पा०) जिनविजय, निर्णय सागर मुद्रण यन्त्रालय, बम्बई, १९४१ ।

जिनपालोपाध्यायादि — खरतरगच्छ-बृहद्गुर्वावलि, जिनविजयमुनि, (सम्पा०) सिजैग्र ४२, बम्बई, १९५६ ।

जिनमण्डन — कुमारपालप्रबन्ध, (सम्पा०) चतुर्विजयमुनि, आत्मानन्द ग्रन्थमाला ३४, भावनगर, १९१४ ।

जिनविजयमुनि (सम्पा०) — खरतरगच्छ-पट्टावली संग्रह, कलकत्ता, १९३२ ।

जिनविजयमुनि (सम्पा०) — जैन पुस्तक प्रशस्ति संग्रह, सिजैग्र, १८, बम्बई, १९३४ ।

जिनविजयमुनि (सम्पा०) — प्राचीन जैन लेख संग्रह, दो भागों में, भावनगर, १९२१ ।

जिनविजयमुनि (सम्पा०) — पुरातनप्रबन्ध संग्रह, सिजैग्र २, कलकत्ता, १९३६।

जिनविजयमुनि (सम्पा०) — कुमारपालचरित संग्रह, सिजैग्र ४१, बम्बई, १९५६।

जिनसेन — आदिपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९५१।

जिनहर्षगणि — कुमारपाल प्रबन्ध, भावनगर, वि० सं० १९७१।

जिनहर्षगणि — उपदेशतरंगिणी (वाराणसी आवृत्ति)।

जिनहर्षगणि — वस्तुपालचरित, जामनगर।

जैन, हीरालाल (सम्पा०) — जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, २८, बम्बई, १९२८।

धनपाल — तिलकमञ्जरी, काव्यमाला सीरीज, ८५, बम्बई, १९३८।

नाहर, पूर्णचन्द्र — जैन लेख संग्रह, तीन जिल्द, जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला, सं० ८, कलकत्ता, १९१८-२९।

प्रभाचन्द्र — प्रभावकचरित, (सम्पा०) एच० एम० शर्मा, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०९, (सम्पा०) जिनविजयमुनि, सिजैग्र १३, अहमदाबाद, १९४०।

बालचन्द्रसूरि — वसन्तविलास, (सम्पा०) सी० डी० दयाल, जी ओ एस, सातवाँ, बड़ौदा, १९१७।

मेरुतुङ्गसूरि — प्रबन्धचिन्तामणि, (सम्पा०) जिनविजयमुनि, सिजैग्र १, शान्ति निकेतन, १९३३; (अंग्रेजी अनु०) सी० एच० टॉनी, बि० आई०, कलकत्ता, १९०१; (हिन्दी अनु०) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, सिजैग्र ३, अहमदाबाद—कलकत्ता, १९४०।

राजशेखरसूरि — प्रबन्धकोश (चतुर्विंशति-प्रबन्ध) (सम्पा०) हीरालाल, फोर्ब्स गुजराती सभा, बम्बई; (सम्पा०) जिनविजयमुनि, सिजैग्र, १९३५।

राजशेखरसूरि — षड्दर्शन-समुच्चय, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, १७वाँ पुष्प, वाराणसी।

सोमदेव — कथासरित्सागर (सम्पा०) सी० एच० टॉनी, पेन्जर्स संस्करण (सम्पा०) दुर्गाप्रसाद आर परव, बम्बई, १९३१ ।

सोमप्रभसूरि — कुमारपाल-प्रतिवोध, (सम्पा०), जिनविजयमुनि, जो ओ एस, चौदहवाँ, बड़ौदा, १९२० ।

हेमचन्द्र — त्रिपष्टिशलाकापुरुपचरित, प्रसारक सभा, भावनगर, १९०५-०९, (छः जिल्द); (अंग्रेजी अनु०) हेलेन, जी ओ एस, ५१ (१९३१); ७७ (१९३७); १०८ (१९४९); १२५ (१९५४) वड़ौदा ।

हेमचन्द्र — द्वयाश्रय काव्य (संस्कृत), दो जिल्द, बी० एस० एस० पूना; १९१५ ।

हेमचन्द्र — कुमारपालचरित या प्राकृत द्वयाश्रय-काव्य, वी० एस० एस० पूना, १९३६ ।

हेमचन्द्र — देशीनाममाला, प्रथम सं०, आर० पिशेल, वम्बई, १८८०; पुनः सं० रामानुजस्वामी, बी० एस० एस०, १७, बम्बई, १९२८; एम० बैनर्जी (सम्पा०), कलकत्ता, १९३१ ।

हेमचन्द्र — अभिधानचिन्तामणि, मणिप्रभा हिन्दी व्याख्या विमर्श सहित, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, १९६४ ।

(२) जैनेतर ग्रन्थ

कल्हण — राजतरंगिणी, (सम्पा०) एम० ए० स्टीन, वम्बई, १८७२ (अंग्रेजी अनु०) वेस्टमिन्स्टर, १९०० । (अनु०) आर० एस० पण्डित, इलाहाबाद, १९३५; (सम्पा०) रघुनाथ सिंह, वाराणसी, १९६८ ।

कौटिल्य — अर्थशास्त्र, (सम्पा०) आर० शामशास्त्री, मैसूर, १९२४ (अंग्रेजी अनु०) मैसूर, १९६० ।

वल्लाल — भोजप्रबन्धः, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६१ ।

वाण — हर्षचरित, निर्णय सागर प्रेस, वम्बई ।

विल्हण — विक्रमांकदेवचरित, (सम्पा०) जी० व्यूलर, वी० एस० एस० १४, पूना, १८७५ ।

वाक्पति — गउडवहो, (सम्पा०) एस० पी० पण्डित, बी० एस० एस० ३४, पूना, १९२७।

सोमेश्वर — कीर्तिकौमुदी (सम्पा०) ए० वी० कथवटे, बी० एस० एस० सं० २५, पूना १८८३; (सम्पा०) जिनविजयमुनि, बम्बई, १९६०।

श्रीहर्ष — नैषधमहाकाव्यम्, हरगोविन्दशास्त्री (हिन्दी व्याख्याकार), चौखम्भा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९८१।

(३) मुस्लिम ग्रन्थ

अबुल फज्ल — आईन-ए-अकबरी, दो जिल्द, (अंग्रेजी अनु०) एच० ब्लॉचमैन, बी० आई०, कलकत्ता, १८७३; (अंग्रेजी अनु०) एच० एस० जारेट; (संशोधित) जे० एन० सरकार, कलकत्ता; १९४८।

अलबीरूनी — तारीख-उल-हिन्द, (अंग्रेजी अनु०) एडवर्ड सी० सचाऊ, दो जिल्द, लन्दन, १९१०। पुनर्मुद्रित, दिल्ली, १९६४।

अल्बीरूनी — अल्बीरूनी का भारत (हिन्दी अनु०) रजनीकान्त शर्मा; इलाहाबाद, १९६७।

इब्नखलदून, अब्दुर्रहमान — इब्नखल्दून का मुकद्दमा, रिजवी (अनु०), प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, १९६१।

फरिश्ता, मो० का० — तारीख-ए-फरिश्ता (अंग्रेजी अनु०) ब्रिग्स, *दि राइज ऑफ दि मोहम्मद पावर इन इण्डिया*, चार जिल्द, लन्दन, १८२९, पुनर्मुद्रित, कलकत्ता, १९६६।

बर्नी, जियाउद्दीन — तारीख-ए-फिरोजशाही, बी० आई०; इलियट ऐण्ड डाउसन, तृतीय, ९३-२६८।

मदनगोपाल (अनु०) — इब्नबतूता की भारतयात्रा या चौदहवीं शताब्दी का भारत, काशी विद्यापीठ, सं० १९८८।

मिनहाजुद्दीन सिराज — तबकात-ए-नासिरी, (अंग्रेजी अनु०) एच० जी० रेवर्टी, दो जिल्द, लन्दन; १८८१।

(ख) आधुनिक ग्रन्थ

(१) इतिहासशास्त्रीय-ग्रन्थ

इरविन, रेमण्ड — दि हेरिटेज ऑफ दि इंग्लिश लाइब्रेरी, लन्दन, १९६४।

ओमन, सर चार्ल्स — ऑन दि राइटिंग ऑफ हिस्टरी, लन्दन, १९३९।

कार, ई० एच० — ह्वाट इज हिस्टरी, पेलिकन बुक्स, १९६४।

कार, ई० एच० — इतिहास क्या है, (हि० अनु०) अशोक चक्रधर, मैकमिलन, नई दिल्ली, १९७९।

कालिंगउड, आर० जी० — द आइडिया ऑफ हिस्टरी, लन्दन, १९६३।

चौबे, झारखण्डे — इतिहास-दर्शन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९८४।

जोन्स, डब्ल्यू० लेविस — कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इंग्लिश लिटरेचर, जि० १, कैम्ब्रिज, १९६३।

टॉमसन, जे० डब्ल्यू० — हिस्टरी ऑफ हिस्टॉरिकल राइटिंग्स, दो जिल्द, न्यूयार्क, १९५८।

डार्सी, एम० सी० — दि मीनिंग ऐण्ड मैटर ऑफ हिस्टरी, न्यूयार्क, १९६१।

नौरडाउ, मैक्स — दि इण्टरप्रेटेशन ऑफ हिस्टरी, अनु० हैमिल्टन, लन्दन, १९१०।

पाठक, वी० एस० — ऐन्शियेण्ट हिस्टोरिएन्स ऑफ इण्डिया, बम्बई, १९६६।

फिलिप्स, सी० एच० (सम्पा०) — हिस्टोरिएन्स ऑफ इण्डिया, पाकिस्तान ऐण्ड सीलोन, लन्दन, १९६२।

बर्खार्ट, जे० — जजमेण्ट्स ऑन हिस्टरी ऐण्ड हिस्टोरिएन्स, (अंग्रेजी अनु०) हैरी जॉन, १९५९।

बुद्धप्रकाश — इतिहास-दर्शन, उत्तर प्रदेश, १९६८।

मजुमदार, आर० सी० — हिस्टोरियोग्रेफी इन मॉडर्न इण्डिया, वम्बई, १९७० ।

रेनियर, जी० जे० — हिस्टरी : इट्स परपज ऐण्ड मेथड, लन्दन, १९६१ ।

लूकास, एच० एच० — ए शॉर्ट हिस्टरी ऑफ सिविलाइजेशन, द्वितीय सं०, न्यूयार्क, १९५३ ।

वार्डर, ए० के० — ऐन इण्ट्रोडक्शन टू इण्डियन हिस्टोरियोग्रेफी पापुलर प्रकाशन, वम्बई, १९७१ ।

वाल्श, डब्ल्यू० एच० — ऐन इण्ट्रोडक्शन टू फिलॉसफी ऑफ हिस्टरी, लन्दन, १९५६ ।

विलियम्स, सी० एच० — दि मॉडर्न हिस्टोरिएन्स, १९३८ ।

हसन, मोहिबुल (सम्पा०) — हिस्टोरिएन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, मेरठ, १९६८ ।

हार्डी, पी० — हिस्टोरिएन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, लन्दन, १९६० ।

(२) अन्य इतिहास ग्रन्थ

अवस्थी, देवीशंकर (सम्पा०) — साहित्य विधाओं की प्रकृति, मैकमिलन, नई दिल्ली, १९८१ ।

आचार्य, जी० वी० — हिस्टॉरिकल इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ गुजरात, वम्बई, १९३३-३५ ।

इलियट, हेनरी एम० ऐण्ड डाउसन, जॉन— द हिस्टरी ऑफ इण्डिया ऐज टोल्ड वाई इट्स ओन हिस्टोरिएन्स, आठ जिल्द, लन्दन, १८६७-७७; पुनर्मुद्रित, इलाहाबाद ।

उपाध्याय, वासुदेव — गुप्त साम्राज्य का इतिहास, द्वितीय खण्ड, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९७० ।

ओझा, गौरीशंकर — राजपूताना का इतिहास, प्रथम खण्ड, द्वितीय सं०, अजमेर, १९३३ ।

कपाड़िया, एच० आर० — दि जैन रिलिजन ऐण्ड लिटरेचर, लाहौर, १९४४ ।

कान्तिसागर — आचार्य श्रीजिनदत्तसूरि, जबलपुर, वि० सं० २००७।

कीथ, ए० बी० — ए हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर, ऑक्सफोर्ड १९२८ (हिन्दी भाषा०) मंगलदेव शास्त्री, संस्कृत साहित्य का इतिहास, दिल्ली, १९६० ।

गुलेरी, चन्द्रधर शर्मा — पुरानी हिन्दी, तृ० सं०, ना० प्र० सभा, काशी, सं० २०३२ ।

गोपाल, लल्लनजी — द इकनामिक लाइफ इन नॉर्दर्न इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी ।

गोपाल, लल्लनजी — अर्ली मेडिवल क्वायन-टाइप्स ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया, द न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, वाराणसी, १९६६ ।

गोपाल, लल्लनजी और यादव, ब्रजनाथ सिंह — भारतीय संस्कृति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर, १९५८ ।

गोपालाचारी — अर्ली हिस्टरी ऑफ द आन्ध्र कण्ट्री, मद्रास, १९४२।

चौधरी, जी० सी० — पॉलिटिकल हिस्टरी ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया फ्रॉम जैन सोर्सेज, अमृतसर, १९५४ ।

चौधरी, जी० सी० — जैन साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग ६, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, १९७३ ।

जैन, कामता प्रसाद — हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वाराणसी, १९४७ ।

जैन, जे० पी० — द जैन-सोर्सेज ऑफ द हिस्टरी ऑफ ऐंश्येण्ट इण्डिया, दिल्ली, १९६४ ।

जैन, सी० एल० — जैन बिब्लियोग्रैफी, भारती जैन परिषद्, कलकत्ता, १९४५ ।

जैन, श्रीचन्द्र — जैन कथाओं का सांस्कृतिक अध्ययन, रोशनलाल जैन ऐण्ड सन्स, जयपुर, १९७१ ।

जैन, हीरालाल — भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, भोपाल, १९६२ ।

जैनी, जे० एल० — आउट-लाइन्स ऑफ जैनिज्म, कैम्ब्रिज।

जैनी, जे० एल० — द हार्ट ऑफ जैनिज्म : ए रिव्यू, अम्बाला, १९२५।

जोहरापुरकर, विद्याधर और कासलीवाल, कस्तूरचन्द्र — वीर शासन के प्रभावक आचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, १९७५।

टंक, यू० एस० — सम डिस्टिंगुिवश्ड जैन्स, दिल्ली, १९१८।

टॉड, जेम्स — एनल्स ऐण्ड ऐण्टिक्विटीज ऑफ राजस्थान, तीन जिल्द (क्रूक), लन्दन, १९२०।

डे, एन० एल० — ज्योग्रैफिकल डिक्शनरी ऑफ एंश्येण्ट इण्डिया, १८९९, पुनः संस्करण, लन्दन, १९२७।

दर्शनविजय, ज्ञानविजय, न्यायविजय — जैन परम्परानो इतिहास (गुजराती), प्रथम भाग, सुरेन्द्रनगर, १९५२।

देसाई, एम० डी० — जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास (गुजराती), जैन श्वेताम्बर परिषद, बम्बई, १९३३।

नाहटा, अगरचन्द्र और नाहटा, भंवरलाल — दादा श्रीजिनकुशलसूरि, कलकत्ता, वि० सं० १९९६।

नाहटा, अगरचन्द्र और नाहटा, भंवरलाल — युग प्रधान श्रीजिनदत्तसूरि, कलकत्ता, वि० सं० २००३।

निजामी, के० ए० — सम आस्पेक्ट्स ऑफ रेलिजन ऐण्ड पॉलिटिक्स इन इण्डिया ड्यूरिंग दि थर्टीन्थ सेन्चुरी, अलीगढ़, १९६१।

पाण्डे, गोविन्दचन्द्र (सम्पा०) — इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धान्त, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७३।

पाण्डेय, चन्द्रभान — आन्ध्र-सातवाहन साम्राज्य का इतिहास, दिल्ली, १९६३।

पाण्डेय, राजबली — विक्रमादित्य ऑफ उज्जयिनी, वाराणसी, १९५१।

पाण्डेय, राजबली — हिस्टॉरिकल ऐण्ड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शंस, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६२।

प्रेमी, नाथूराम — जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, संशोधित सं० १९५६।

फोर्बस, ए० के० — रासमाला (हिन्दी अनु०), (सम्पा०) गोपालनारायण बहुरा, तीन जिल्द; मंगल प्रकाशन, जयपुर, १९५८-१९६४।

बेलानी, फतेहचन्द्र — जैन-ग्रन्थ और ग्रन्थकार, सन्मति प्रकाशन, नं० ४; वाराणसी, १९५०।

ब्यूलर, जी० जे० — ऑन द इण्डियन सेक्ट ऑफ द जैनाज, (सम्पा०) जे० बर्गेस, लन्दन, १९०३।

ब्यूलर, जी० जे० — लाइफ ऑफ हेमचन्द्राचार्य, (अंग्रेजी अनु०) एम० पटेल, सिजैग्र ५; अहमदावाद, १९३१।

ब्यूलर; जी० जे० — हेमचन्द्राचार्य जीवनचरित्र (हि० अनु०), बाठिया कस्तूरमल, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६७।

भण्डारकर, आर० जी० — अर्ली हिस्टरी ऑफ डेक्कन, तृतीय सं०, कलकत्ता, १९२८।

मजुमदार, ए० के० — चालुक्याज ऑफ गुजरात, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९५६।

मजुमदार, आर० सी० ऐण्ड पुसालकर, ए० डी० (सम्पा०) — द एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, बम्बई, १९५७।

याजदानी, जी० (सम्पा०) — दक्कन का प्राचीन इतिहास, हि० संस्करण, मैकमिलन, नई दिल्ली, १९७७।

रिजवी, ए० ए० — आदि तुर्ककालीन भारत, अलीगढ़, १९५६।

रे, एच० सी० — द डायनेस्टिक हिस्टरी ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया, दो जिल्द, कलकत्ता, १९३१, १९३६।

लॉ, बी० सी० — हिस्टोरिकल ज्योग्रेफी ऑफ ऐंश्येण्ट इण्डिया, पेरिस, १९५४।

विण्टरनित्ज, एम० — हिस्टरी ऑफ इण्डियन लिटरेचर, जि० २, कलकत्ता, १९३३।

विण्टरनित्ज, एम० — द जैन्स इन द हिस्टरी ऑफ इण्डियन लिटरेचर, अहमदावाद, १९४६।

विल्सन, एच० एच० — द हिन्दू हिस्टरी ऑफ कश्मीर, सुशील गुप्ता प्रा० लि०, कलकत्ता, १९६०।

स्टीन, ऑटो — द जिनिस्टिक स्टडीज, अहमदावाद, १९४८।

स्टीवेन्सन, मिसेज एस० — द हार्ट ऑफ जैनिज्म, आक्सफोर्ड, १९१५।

सरकार, डी० सी० — स्टडीज इन द ज्योग्रैफी ऑफ एंश्येण्ट ऐण्ड मेडिवल इण्डिया, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६०।

साण्डेसरा, बी० एल० — हेमचन्द्राचार्य का शिष्य मण्डल, वाराणसी, १९५१।

साण्डेसरा, बी० एल० — लिटररी सर्किल ऑफ महामात्य वस्तुपाल ऐण्ड इट्स कॉन्ट्रीब्यूशन टू संस्कृत लिटरेचर, सिंजैग्र ३३, बम्बई, १९५१।

साण्डेसरा, बी० एल० — महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मण्डल और संस्कृत साहित्य में उसकी देन, जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, वाराणसी, १९५९।

साण्डेसरा ऐण्ड थाकर — लेक्सिकोग्रैफिकल स्टडीज इन जैन संस्कृत, ओरिएण्टल इंस्टीच्यूट, बड़ोदा, १९६२।

सेठ, सी० बी० — जैनिज्म इन गुजरात, बम्बई, १९५३।

सेन, अमूल्यचन्द्र — एलिमेण्ट्स ऑफ जैनिज्म, भारत विद्या, बिहार, सं० ३, १९५३।

शास्त्री, नेमिचन्द्र — भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान, द्वितीय खण्ड, अ० भा० दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्, १९८३।

हबीब, मोहम्मद व निजामी, खालिक अहमद (सम्पा०) — दिल्ली सल्तनत, भाग-1, प्रथम हि० सं०, मैकमिलन, नई दिल्ली, १९८२।

हेग, वूल्जले (सम्पा०) — कैम्ब्रिज हिस्टरी ऑफ इण्डिया, जि० ३, कैम्ब्रिज, १९३१ ।

त्रिपाठी, आर० एस० — हिस्टरी ऑफ कन्नौज, वाराणसी, १९३७ ।

(ग) कोश

आप्टे, वी० एस० — द स्टूडेण्ट्स संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, दिल्ली, १९६५ ।

आप्टे, वी० एस० — द स्टूडेण्ट्स इंग्लिश-संस्कृत डिक्शनरी; दिल्ली, १९६८ ।

वार्कर, एल० मेरी — पीयर्स साइक्लोपीडिया, ७७ वाँ सं०; १९६८ ।

वर्मा, धीरेन्द्र तथा अन्य (सम्पा०) — हिन्दी साहित्य कोश, भाग १, व २; ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी, सं० २०२० ।

वेलणकर, एच० डी० — जिनरत्नकोश : ग्रन्थ १, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना, १९४४ ।

शर्मा, चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद — चरित्रकोश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९८३ ।

शुक्ल, श्रीकृष्ण — हिन्दी-पर्य्यायवाची कोश, भार्गव पुस्तकालय, बनारस, १९३५ ।

शेठ, हरगोविन्ददास, टी० — पाइअ-सद्द-महण्णवो (प्राकृत शब्द महार्णव), कलकत्ता, १९२८ ।

सहाय, राजवंश 'हीरा' — संस्कृत साहित्यकोश, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस, वाराणसी, १९७३ ।

साकरिया, आचार्य बदरी प्रसाद एवं साकरिया, भूपतिराम — राजस्थानी-हिन्दी शब्दकोश, प्रथम संस्करण, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, १९७७ ।

(घ) पत्रिकादि

अनेकान्त (हिन्दी), दिल्ली ।

आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ ।

इण्डियन एण्टिक्वेरी, बम्बई।
इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली।
एपिग्रैफिया इण्डिका, उटकमण्ड।
एनल्स ऑफ द भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना।
गजेटियर ऑफ द बाम्बे प्रेसीडेन्सी, जि० १, भाग एक व दो; बम्बई, १८९६।
जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता।
जर्नल ऑफ द बाम्बे ब्राञ्च ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई।
जर्नल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, आयरलैण्ड, ब्रिटेन ऐण्ड लण्डन।
जैन-भारती, कलकत्ता।
जैन साहित्य संशोधक (हिन्दी, गुजराती), अहमदाबाद।
जैन, सत्यप्रकाश, अहमदाबाद।
जैन हितैषी (हिन्दी) बम्बई।
प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ; बम्बई, १९४६।
प्रोसीडिंग्स ऑफ द इण्डियन हिस्टरी कांग्रेस।
नागरी प्रचारिणी पत्रिका (हिन्दी), वाराणसी।
भारतीय विद्या, बम्बई।
मॉडर्न रिव्यू।
श्रमण, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी।

राजशेखर कालीन भारत का मानचित्र

अनुक्रमणिका

आ

ख

ष

स